

ॐ

परमात्मने नमः

भगवान् आत्मा

संपादक
शशीकांत म. शेट
भावनगर

प्रकाशक
वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट,
भावनगर-३६४००१

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :
वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
५८०, जूनी माणेकवाडी,
भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २४२३२०७

प्रथमावृत्ति : प्रत :

पृष्ठ संख्या :
मूल्य :

टाईप सेटिंग :
पूजा इम्प्रेसन्स
१०७५/ए, मातृछाया-४,
आंबावाडी, भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २२०३४७०

मुद्रक :
भगवती ऑफसेट
१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड
बारडोलपूरा, अहमदाबाद
फोन : २१७३४९२/२१६७६०३

प्रकाशकीय

शुद्धोपयोग संपन्न ज्ञानी धर्मात्मा ही 'समस्त जिनशासन' हैं, ऐसा निर्देश 'श्री समयसार' गाथा १५ में मिलता है। इस विषय की कुछ स्पष्टता ग्रंथ की 'प्रस्तावना' में निर्दिष्ट है।

ट्रस्टीगण
वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

ॐ
श्री परमात्मने नमः

✠ भगवान् आत्मा ✠

['गुरुदेवश्री के वचनामृत' में से उद्धृत रत्न]

स्वरूप में लीनता के समय पर्याय में भी शांति और वस्तु में भी शांति, आत्मा के आनंदरस में शांति, शांति और शांति; वस्तु और पर्याय में ओतप्रोत शांति। रागमिश्रित विचार था वह खेद छूटकर पर्याय में और वस्तु में समता, समता और समता; वर्तमान पर्याय में भी समता और तैकालिक वस्तु में भी समता। आत्मा का आनंदरस बाहर और भीतर सर्व प्रकार प्रस्फुटित हो जाता है; आत्मा विकल्प के जाल को लाँघकर आनंदरसरूप ऐसे अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। २२.

✠

यदि चैतन्यसामर्थ्य का विश्वास करे तो उसके आश्रय से रत्नत्रयधर्म की अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ प्रगट होकर मोक्षफल सहित विशाल वृक्ष उगे। भविष्य में होनेवाले मोक्षवृक्ष की शक्ति वर्तमान में ही तेरे चैतन्यबीज में विद्यमान है। सूक्ष्म दृष्टि से उसे विचार में लेकर अनुभव करने से तेरा अपूर्व कल्याण होगा। ८०.

✠

२

'गुरुदेवश्री के वचनामृत' में से उद्धृत रत्न

भाई ! तूने पंचम काल में भरतक्षेत्र में और निर्धन घर में जन्म लिया है इसलिये 'हम आजीविका आदि के लिये क्या करें' ऐसा न देख ! तू वर्तमान में और जब देख तब सिद्ध समान ही है, जिस क्षेत्र में तथा जिस काल में जब देख तब तू सिद्ध समान ही है। क्या मुनिराज को खबर नहीं होगी कि ये सब जीव संसारी हैं ? भाई ! संसारी और सिद्ध तो पर्याय की अपेक्षा से हैं। स्वभाव से तो वे संसारी जीव भी सिद्ध समान शुद्ध ही हैं। ८८.

✠

मैं ज्ञायक हूँ...ज्ञायक हूँ...ज्ञायक हूँ - इसप्रकार अंतर में घोटते रहना, ज्ञायक के सन्मुख झुकना, ज्ञायक के सन्मुख एकाग्रता करना। अहाहा ! पर्याय को ज्ञायकोन्मुख करना बहुत कठिन है, उसमें अनंत पुरुषार्थ चाहिये। ज्ञायकतल में पर्याय पहुँची, अहाहा ! उसकी क्या बात ! ऐसा पूर्णानंद का नाथ प्रभु उसकी प्रतीति में, उसके विश्वास में - भरोसे में आना चाहिये कि अहो ! एक समय की पर्याय के पीछे इतना महान भगवान वह मैं ही हूँ। ८९.

✠

अहाहा ! सारी दुनिया का विस्मरण हो जाये ऐसा तेरा परमात्मतत्त्व है। अरेरे ! तीन लोक का नाथ होकर राग में मैला हो गया ! राग में तो दुःख की ज्वाला जलती है, वहाँ से दृष्टि को हटा ले ! और जहाँ सुख का सागर भरा है वहाँ अपनी दृष्टि को लगा दे ! राग को तू भूल जा ! तेरे परमात्मतत्त्व को पर्याय स्वीकारती है, परंतु उस पर्यायरूप मैं हूँ यह भी भूल जा ! अविनाशी भगवान के पास क्षणिक पर्याय का क्या मूल्य ? पर्याय को भूलने की बात है वहाँ राग और शरीर की बात कहाँ रही ? अहाहा ! एक बार तो मुरदे भी खड़े हो जायें ऐसी यह बात है, अर्थात् सुनते ही उछलकर अंतर में जाये ऐसी बात है। ९९.

✠

श्री अरिहंतदेव और उनके शास्त्र ऐसा कहते हैं कि - प्रभु ! तू ज्ञानमात्र है, वहाँ प्रीति कर और हमारे प्रति भी प्रीति छोड़ दे। तेरा भगवान तो भीतर शीतल-शीतल चैतन्यचंद्र, जिनचंद्र है; वहाँ प्रीति कर। आकाश में जो चंद्र है वह शीतल होता है किन्तु वह तो जड़ की शीतलता जड़रूप है। इस शांत-शांत-शांत चैतन्यचंद्र की शीतलता तो अतीन्द्रिय शांतिमय है, वह एकमात्र शांति का पिण्ड है। उसे शांति का पिण्ड कहो या ज्ञान का पिण्ड कहो - दोनों एक ही है। इसलिये जितना यह ज्ञान है उतना ही परमार्थ आत्मा है ऐसा निश्चय करके उसी में प्रीतिवंत बन। १०४.

✽

जिसने पर्यायदृष्टि हटा दी और द्रव्यदृष्टि प्रगट की वह दूसरे को भी द्रव्यदृष्टि से पूर्णानंद प्रभु ही देखता है। पर्याय का ज्ञान करे, परंतु आदरणीयरूप में - दृष्टि के आश्रयरूप में - तो उसको त्रैकालिक ध्रुव शुद्ध द्रव्य ही है। १०९.

✽

कारणपरमात्मा ही वास्तव में नित्य आत्मा है। नित्य का निर्णय करती है अनित्य पर्याय, किन्तु उसका विषय है कारणपरमात्मा; इसलिये वही वास्तव में आत्मा है। पर्याय को अभूतार्थ कहकर, व्यवहार कहकर, अनात्मा कहा है। १२२.

✽

अपने चिदानंदस्वभाव के अभिमुख होकर उसके अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करना वही आत्मा का सच्चा अभिनंदन है। इसके सिवा जगत के लोग मिलकर प्रशंसा करें या अभिनंदन-पत्र दें उसमें आत्मा का कोई हित नहीं है। अरे प्रभु ! तुझे अपने आत्मा का सच्चा सन्मान करना ही कभी नहीं आया। अपने चैतन्यस्वरूप की महत्ता भूलकर तू संसार में भटका। सर्वज्ञ-परमात्मा के समान शक्ति तेरे स्वभाव में विद्यमान है, उसका बहुमान करके स्वभावसन्मुख हो, और

स्वभाव के आनंद का वेदन करके तू स्वयं अपने आत्मा का अभिनंदन कर; उसीमें तेरा हित है। १३६.

✽

विकारी अवस्था आत्मा की पर्याय में होती है वह बात स्वभावदृष्टि से गौण है। स्वभावदृष्टि से तो जितने परोन्मुखवृत्तिवाले भाव होते हैं वे सब पौद्गलिक हैं। पर्यायदृष्टि से वह विकारी पर्याय आत्मा की है किन्तु स्वभावदृष्टि से वह आत्मा का स्वभाव नहीं है इसलिये पौद्गलिक है। १५०.

✽

त्रैकालिक सत् चैतन्यप्रभु - तेरा ध्रुव तत्त्व - उसकी दृष्टि तूने कभी नहीं की। वर्तमान रागादि की अथवा अल्प जानपना आदि की जो अवस्था है, दशा है उस क्षणिक दशा पर तेरी दृष्टि है। पर को अपना माने वह तो बड़ी भ्रमणा है ही; परंतु जानने-देखने की वर्तमान दशा जो तेरी की हुई है, तेरी है, तुझ में है, तेरे द्रव्य का वर्तमान अंश - पर्याय है, उस पर दृष्टि - पर्यायदृष्टि - वह भी मिथ्यात्व है। वह पर्यायदृष्टि अनादि की है। पर्याय के ओर की दृष्टि छोड़कर तेरी दृष्टि त्रैकालिक द्रव्यस्वभाव पर कभी नहीं आयी। मिथ्यात्व एवं रागादि के दुःख से छूटने का - विकल्प तोड़ने का - अन्य कोई उपाय नहीं है; अंतर त्रैकालिक ध्रुव द्रव्य-स्वभाव की - शुद्ध ज्ञायक परम भाव की - दृष्टि करना वही एक उपाय है। १७४.

✽

अहो ! ऐसे चमत्कारी स्वभाव की बात स्वभाव के लक्ष से सुने तो मिथ्यात्व के छक्के छूट जायें। २४३.

✽

सम्यक् मतिज्ञान, सम्यक् श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदि सर्व अवस्थाएँ होती अवश्य हैं, परंतु उन मति-श्रुतादि अवस्थाओं पर दृष्टि लगाने से वे मति-श्रुत या केवलादि कोई अवस्थाएँ प्रगट नहीं होती, परंतु

परिपूर्ण ऐश्वर्यवान जो पूर्ण वस्तु ध्रुव निश्चय विद्यमान है उसकी दृष्टि के बल से सम्यक् मति-श्रुत और (लीनता में वृद्धि होने पर) पूर्ण केवलज्ञान-दशा प्रगट होती है। २४७.

卐

संयम के भेदों में संयम को ढूँढने से संयमदशा प्रगट नहीं होती, किन्तु 'मैं आत्मा तो अभेदरूप से वीतरागस्वरूप हूँ, अनंत गुणों का अभेद पिण्ड हूँ, ऐसी अभेद दृष्टि के बल से (स्थिरता बढ़ने पर) संयमादि वीतरागी पर्याय प्रगट होती है। 'असंयम का त्याग करूँ तो संयम प्रगट हो' ऐसे विकल्प से संयम प्रगट नहीं होता, किन्तु मेरा स्वभाव ही नित्य समस्वरूप है, वीतरागस्वरूप है - इस प्रकार उस पर दृष्टि लगाने से (स्थिरता होने पर) संयम प्रगट होता है। गुण-गुणी का भेद भी वस्तुदृष्टि का विषय नहीं है। वास्तव में तो अनंत गुणों के अभेद पिण्डरूप जो निज वस्तु वही दृष्टि का विषय है। २४८.

卐

चंद्र तो स्वयं सोलह कलाओं से पूर्ण है, उसे नित्य-राहु ढँककर रहता है; राहु ज्यों-ज्यों हटता जाये त्यों-त्यों चंद्र की एक-एक कला विकसित होती रहती है। चंद्र में दूज, तीज, चौथ आदि कला के भेद अपने से नहीं किन्तु राहु के निमित्त की अपेक्षा से हैं। इसीप्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा चंद्र के समान अखण्ड परिपूर्ण है, उसमें पाँचवें, छट्टवें, सातवें गुणस्थान के भेद की जो कलाएँ हैं वे अखण्ड आत्मा की अपेक्षा से नहीं हैं, किन्तु निमित्त ऐसा जो कर्मरूप राहु उसकी अपेक्षा से हैं। पुरुषार्थ द्वारा वह हटता जाता है इसलिये संयम की कला के भेद पड़ते हैं, परंतु अभेद आत्मा की अपेक्षा से वे भेद नहीं पड़ते। उन कला के भेदों पर दृष्टि न रखकर संपूर्ण द्रव्य पर दृष्टि रखना वही कलाओं के विकास का कारण है। २४९.

卐

वीतरागवाणीरूप समुद्र के मंथन से जिसने शुद्ध चिद्रूप-रत्न प्राप्त किया है ऐसा मुमुक्षु चैतन्यप्राप्ति के परम उल्लास से कहता है कि अहो ! मुझे सर्वोत्कृष्ट चैतन्यरत्न प्राप्त हुआ, अब मुझे चैतन्य से अन्य दूसरा कोई कार्य नहीं है, दूसरा कोई वाच्य नहीं है, दूसरा कोई ध्येय नहीं है, दूसरा कुछ श्रवण-योग्य नहीं है, अन्य कुछ प्राप्त करने योग्य नहीं है, अन्य कोई श्रेय नहीं है, अन्य कोई आदेय नहीं है। २६३.

卐

मोह, राग, द्वेषादि की जो विकारी अवस्था आत्मा की पर्याय में उत्पन्न होती है वह जड़ की ही अवस्था है, क्योंकि जड़ की ओर के झुकाववाला भाव है इसलिये उसे जड़ का कहा है। वह भाव आत्मा का स्वभाव नहीं है और उसकी उत्पत्ति मूलभूत आत्मामें से नहीं होती इसलिये उसे जड़ कहा है। २६४.

卐

आत्मचिंतन में कहीं गुणभेद की या राग की मुख्यता नहीं है, विकल्प का जोर नहीं है, किन्तु ज्ञान में परम ज्ञायकस्वभाव की किसी अचिंत्य महिमा का जोर है, और उसीके बल से निर्विकल्प होकर मुमुक्षुजीव आत्मा को साक्षात् अनुभव में ले लेता है; वहाँ कोई विकल्प नहीं रहते। इस प्रकार भेद-विकल्प बीच में आते हैं तथापि स्वभाव की महिमा के बल से मुमुक्षुजीव उसे लाँघकर स्वानुभूति में पहुँच जाता है। २७९.



['परमागमसार' ग्रंथमें से उद्धृत रत्न]

निज परमपावन परमात्मा का निज परमस्वरूप, उसके प्रवाह (अस्तित्व) की परम प्रतीति और उसमें स्थिरता-यह ऐसा अमूल्य चिंतामणि रत्न है कि जिसका मूल्यांकन नहीं हो सकता। १३.

✽

मृतक कलेवर में मूर्छित - ऐसा अमृत आनंद स्वरूप आत्मा निज की ओर नजर भी नहीं करता। अपनी ओर दृष्टि करते ही सुख-रूप अमृत से भरे हुए पूर्ण समुद्र को निरखते, देखते, अवलोकन करते, दृष्टिगत करते, मानते और उसमें स्थिर होते ही तृप्ति होती है - वस्तु स्वयं ऐसी ही है। १७.

✽

निश्चय दृष्टि से प्रत्येक जीव परमात्मस्वरूप ही है। जिनवर और जीव में अंतर नहीं - चाहे वह एकेन्द्रिय का जीव हो अथवा स्वर्ग का जीव हो, यह सब तो पर्याय में है, वस्तुस्वरूप से तो परमात्मा ही है। जिनकी दृष्टि पर्याय से हट कर स्वरूप पर गई है वे तो स्वयं को भी परमात्मस्वरूप (ही) देखते हैं, और प्रत्येक जीव को भी परमात्मस्वरूप ही देखते हैं। सम्यक्दृष्टि सब जीवों को जिनवर (रूप से) जानते हैं और जिनवर को जीवरूप से जानते हैं। अहा ! कितनी विशाल दृष्टि ! अरे, यह बात स्वीकार हो तो कल्याण हो जाय परंतु ऐसी श्रद्धा की अवरोधक मान्यतारूपी गढ़ का पार नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि बारह अंग का सार तो यह है कि जिनवर समान आत्मा को दृष्टि में लो, क्योंकि आत्मा का स्वरूप परमात्मस्वरूप ही है। २५.

✽

प्रश्न :- आत्म सन्मुख होने की विधि क्या है ?

उत्तर :- जो पर ओर देखता है वह स्व ओर देखे तो स्वसन्मुख होता है। अनंत-अनंत ज्ञानानंद सामर्थ्यवाली वस्तु, उसका जैसा और जितना महात्म्य है वैसा और उतना महात्म्य उसके ज्ञान में आवे तो वह ज्ञान स्वसन्मुख हो सके। ३२.

✽

चैतन्य चमत्कारी तत्त्व की सामर्थ्य कितनी ! ऐसा अंतर में देखे - प्रतीत करे तो धर्मरूपी महल के निर्माण का आधार स्तंभ खड़ा होता है। विकल्पों के टूटे बिना ऐसे वस्तु स्वरूप का अंतर में स्वीकार नहीं होता। वस्तु है - वह सीमा रहित है। वस्तु अमर्यादित है, अक्षय और अमेय है। ऐसी वस्तु को श्रद्धा में लेनेवाली पर्याय का भी कभी नाश नहीं होता - वह ऐसी अक्षय और अमेय है। भले ही अचारित्र के परिणाम हो, तो भी इसकी श्रद्धा पर्याय की ज्ञान पर्याय की इतनी शक्ति है कि 'राग मुझ में नहीं, परद्रव्य मुझ में नहीं' - ऐसा जान लेती है। ६२.

✽

ज्ञान में चैतन्यस्वभाव की महत्ता भासित हुए बिना ज्ञान अंतर में नहीं ढल सकता। ज्ञान में चैतन्यस्वभाव की महिमा व महत्ता भासित हो तब ही ज्ञान अंतर में ढलता है। ६९.

✽

अनंत प्रतिकूल द्रव्य आ पड़े तो भी आत्मा हिलाये न हिले। तीव्र से तीव्र अप्रशस्त अशुभ परिणाम हो, उनसे भी ध्रुव आत्मा हिलाये न हिले, और एक समय की पर्याय से भी आत्मा हिलाये न हिले -

ऐसा अगाध सामर्थ्यवान ध्रुव आत्मा है, उसे लक्ष्य में लेने से भव-भ्रमण छूटे - ऐसा है। ९७.

卐

मुझे बाहर का कुछ चाहिए - ऐसा मानने वाला भिखारी है। मुझे मेरा आत्मा ही चाहिए - ऐसा मानने वाला बादशाह है। आत्मा अचिंत्य-शक्तियों का स्वामी है, जिस क्षण जगे उस क्षण ही वह जाग्रत-ज्योति-आनंद स्वरूप अनुभवगम्य हो जाता है। ९८.

卐

गाय-भेंस आदि पशुओं के कण्डे मिलते ही गरीब स्त्रियाँ बहुत खुश हो जाती हैं और धन-वैभव मिलने पर सेठ लोग बाग-बाग हो जाते हैं। परंतु कण्डे और धनादि में कोई अंतर नहीं। एक बार आत्मा के वैभव का दर्शन करे, तो बाह्य वैभवों की निर्मूल्यता भासित होजाए। १००.

卐

देव-गुरु-शास्त्र ऐसा कहते हैं कि भाई तुझे तेरी महिमा भासित हो तो उसमें, हमारी महिमा तो हो ही जाती है। तुझे तेरी महिमा तो भासित होती नहीं, तो तुझे हमारी भी यथार्थ महिमा भासित नहीं हुई - तूने हमें पहचाना ही नहीं। १०१.

卐

अरे भाई ! तेरे जैसा कोई धनाढ्य नहीं। तुम्हारे अंतर में परमात्मा विराजते हैं, इससे अधिक धनाढ्यपन अन्य क्या हो सकता है ? ऐसे अपने परमात्मस्वरूप की बात सुनते ही तुझे अंतर से उल्लास उछलना चाहिए, इसकी लगन लगनी चाहिए, इसके पीछे पागल हो जाना चाहिए - ऐसे परमात्मस्वरूप की धून लगनी चाहिए। सच्ची धून लगे तो, जो अंतर स्वरूप है वह प्रगट हुए बिना कैसे रहे ? अवश्य ही प्रगट हो। १२९.

卐

तीनलोक के नाथस्वरूप यह आत्मवस्तु अभेद है। उसका लक्ष्य करने से सम्यग्दर्शन होता है। गुण-गुणी के भेद में लक्ष्य रहने से विकल्प उठेंगे, राग होगा, बंधन होगा, इसलिए गुण-गुणी के भेद को ऐसा अलोप कर दे कि मानो जानता ही नहीं और जहाँ नित्यानंद प्रभु है वहाँ दृष्टि दे, भाई ! द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। परंतु द्रव्य तथा उसके गुणों की दृष्टि सम्यग्दर्शन है - ऐसा नहीं कहा है। १३५.

卐

“आत्मा ज्ञानमात्र है” ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा शरीररूप नहीं, वाणीरूप नहीं, पुण्यपापरूप नहीं और एक समय की पर्याय मात्र भी नहीं है। “आत्मा ज्ञानमात्र है” यह कहने का अर्थ है कि आत्मा ज्ञान-दर्शन, अकार्य-कारण, भावादि अनंत शक्तिमय है। प्रभु ! तेरे घर की क्या बात है ! तेरे में अनंत शक्तियाँ भरी हुयी हैं और एक-एक शक्ति अनंत सामर्थ्यवान है, प्रत्येक शक्ति अनंतगुणों में व्याप्त है, प्रत्येक शक्ति में अन्य अनंत शक्तियों का रूप है, प्रत्येक शक्ति अन्य अनंत शक्तियों में निमित्त है। ऐसी प्रत्येक शक्ति में अनंत पर्यायें हैं, वे पर्यायें क्रम से परिणमित होने से क्रमवर्ती हैं, तथा अनंत शक्तियाँ एक साथ रहने के कारण वे अक्रमवर्ती हैं। ऐसे अक्रमवर्ती और क्रमवर्ती गुण-पर्यायों का पिण्ड - वह आत्मद्रव्य है। द्रव्य शुद्ध है, गुण भी शुद्ध है तथा उन पर दृष्टि करने से परिणमन भी शुद्ध ही होता है। १६९.

卐

एक-एक गुण का परिणमन स्वतंत्र और अलग नहीं होता, परंतु अनंत-गुणमय द्रव्य के परिणमित होने पर गुणों का साथ-साथ परिणमन होता है। एक-एक गुण पर दृष्टिझालने से गुण का शुद्ध परिणमन नहीं होता, परंतु द्रव्य पर दृष्टि देने से अनंत गुणों का निर्मल परिणमन होता है, - आशय यह है कि गुण भेद पर से दृष्टि हटाकर अनंत

गुणमय द्रव्य को दृष्टिगत करते ही द्रव्य शुद्धरूप से परिणमित होता है। १८३.

✽

आत्मा की विकल्प सहित साधारण महिमा को महिमा नहीं कहते। अंतर में रुचे तो वीर्य उछले, वह यहाँ-कहाँ उछलता है ? साधारण धारणा और महत्ता तो अनंत बार हुई, परंतु यथार्थ आत्ममहिमा तो अंतर-स्फुरित होनी चाहिए, एक यही कमी रह गयी है। प्रथम माहात्म्य होता है और पीछे माहात्म्य की उग्रता होते-होते एकाग्रता होती है। १९३.

✽

अहो ! जिसके आनंद के एक क्षण के (रसास्वाद) के आगे तीन लोक का सुख विष सम लगे - जहर जैसा लगे - तिनके-समान तुच्छ लगे - भगवान आत्मा तो ऐसा है। १९९.

✽

मेरे चैतन्य उपयोग का हनन होता ही नहीं, जिसका हनन तो उसे उपयोग ही नहीं कहते। पर प्रभु ! केवलज्ञान नहीं है न ! केवलज्ञान का प्रयोजन ही क्या है ? जिसके हाथ में केवलज्ञान की खान आगयी है - उसे केवलज्ञान प्राप्त होगा ही। २००.

✽

भगवान आत्मा ज्ञान की मौजों में उछलता हुआ, पर के काम और राग के काम मेरे नहीं - ऐसी दृष्टि करता हुआ केवलज्ञान के किनारे आ खड़ा हुआ है। २०२.

✽

राग होने पर भी साधक के हृदय में सिद्ध भगवान टंकोत्कीर्ण रहते हैं। २०३.

✽

जिन्होंने ने स्वयं के पर्याय अंश से दृष्टि हटाकर द्रव्य पर दृष्टि

की वे अन्य द्रव्य को भी इसी प्रकार देखते हैं अर्थात् अन्य पदार्थों को भी उनकी पर्याय से नहीं देखते, बल्कि उन्हें द्रव्य रूप से ही - वस्तुरूप से ही - अखंड देखते हैं। २०९.

✽

द्रव्य में जितनी सामर्थ्य निहित है, उतनी ही सामर्थ्य जबतक दृष्टि में न आये - तब-तक निर्विकल्प दृष्टि नहीं होती। २१९.

✽

'सर्वज्ञ-सर्वदर्शी' - ये शब्द जब सामने आते हैं, तब आहाहा ! अखंड वस्तु जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है - वह पूरी की पूरी नजरों में तैरने लगती है। २२२.

✽

आत्मा आनंदस्वरूप है। इसके भान-बिना व्रत, जप और तप - ये सभी की बिन दूल्हे बारात जैसे हैं। २२७.

✽

भाई ! तेरा रूप तो भगवान स्वरूप है न ! परमात्म स्वरूप तूँ है। जिनस्वरूप ही आत्मा है - वीतराग-अकषाय मूर्ति ही आत्मा है - उसे परम-पारिणामिक भाव कहो चाहे एक रूप भाव कहो, यहाँ उसे शुद्ध भाव कहने में आता है। उससे जीवादि सात बाह्य तत्त्व भिन्न हैं। निमित्त आदि तो भिन्न हैं ही, पर रागादि अशुद्ध भाव भी बहिर्तत्त्व हैं और पूर्ण स्वरूप के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली वीतरागी पर्याय भी पर्याय होनेसे बहिर्तत्त्व है और जो बहिर्तत्त्व हैं, वे हेय हैं। २६५.

✽

शुद्धज्ञान त्रिकाली द्रव्य का ही अवतार है। अवतार का अर्थ ऐसा नहीं कि नवीन उत्पत्ति हो परंतु द्रव्य शुद्ध ज्ञानस्वरूप है - विकल्प से व राग से रहित ही है। शुद्ध ज्ञानस्वरूप गुण-गुणी के भेद से भी रहित है तथा सुख-सागर का पूर है - वस्तु स्वयं ही सुखसागर

का पूर है - वस्तु में सुखसागर की बाढ निहित है। अतीन्द्रिय आनंद का पुँज प्रभु ही शुद्धभाव है, सामान्यभाव है, ज्ञायक भाव है - उसके एक समय मात्र के अनुभव से समस्त संसार का नाश हो जाता है। २६८.

✽

एक समय की निर्मल पर्याय को - जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय है - रत्नत्रय कहा है तो उसके फलरूप केवलज्ञानपर्याय महारत्न है और ज्ञानगुण की एक समय की वह पर्याय महारत्न है, तो ऐसी अनंत-अनंत पर्यायों का धारक ज्ञानगुण भी महारत्न है। ऐसे ज्ञान, आनंद आदि अनंतगुणोंरूप महा-महा रत्नों का धारक आत्मद्रव्य तो महारत्नों से भरा हुआ सागर है, उसकी महिमा का क्या कहना ! अहो ! इसकी महिमा वचनातीत है। उसकी अपार-अपार महिमा अनुभवगम्य ही है। ऐसे स्वभाव का विश्वास और दृष्टि करे तो मालूम हो। २९५.

✽

अनुभव की शोभा वास्तव में आत्मद्रव्य के कारण है। आत्मद्रव्य कूटस्थ होनेसे अनुभव में नहीं आता। अनुभव तो पर्याय का ही होता है, परंतु पर्याय में द्रव्य का स्वीकार हुआ, पर्याय की ऐसी शोभा आत्मद्रव्य के कारण ही है। २९७.

✽

भाई, तेरे माहात्म्य की क्या बात ! जिसके स्मरण से ही आनंद आता है, उसके अनुभव के आनंद की क्या बात ! अहो ! मेरी सामर्थ्य कितनी ? - जिसमें दृष्टि डालते ही खजाना खुल जाए, वह वस्तु कैसी ? राग को रखने का तो मेरा स्वभाव नहीं, पर अल्पज्ञता को भी नहीं रख सकता। स्वयं को ऐसी प्रतीति होने पर यह निश्चय हो जाता है कि "मैं सर्वज्ञ होऊँगा," अल्पज्ञ रहनेवाला नहीं हूँ। ३०३.

यह चैतन्यतत्त्व तो कोई अगम्य वस्तु है। वह बाह्य वैराग्य से अथवा ज्ञान के क्षयोपशम से मिलनेवाली चीज नहीं। अंतर में अव्यक्त होने पर भी प्रकट अचिंत्य वस्तु विराजमान है। उसके माहात्म्य-प्रति उपयोग जाए तब वह गम्य हो और जन्म-मरण टले - ऐसी यह वस्तु है। ३१३.

✽

मूल चीज - ध्रुव वस्तु - इतनी सूक्ष्म है कि यह सूक्ष्मवस्तु हाथ में (अनुभव में) आए तो बस ! अमृत की वर्षा ही वर्षा हुयी। ३१७.

✽

हम सर्वज्ञ हैं और तेरे गर्भ में भी सर्वज्ञ-पद विद्यमान है। स्वभाव में विद्यमान सर्वज्ञपद का आदर हुआ, उसमें अनंत सर्वज्ञों का आदर हो गया - ऐसा सर्वज्ञ कहते हैं। ३२४.

✽

भगवान जिसके हृदय में विराजते हैं, उसका चैतन्यशरीर राग-द्वेष रूपी जंग से रहित हो जाता है। ३२५.

✽

हे प्रभु ! आपने चैतन्य का अनंत भंडार खोल दिया है। तो हे प्रभु ! अब ऐसा कौन होगा जो तिनके-समान चक्रवर्ती के राज्य को छोड़कर, चैतन्यरूपी खजाने को खोलने न निकल पड़े ? ३२९.

✽

यह आत्मा - यही जिनवर है, यही तीर्थकर है। अनादि काल से जिनवर है। अहा ! अनंत केवलज्ञान की बेल है। निज आत्मा ही अमृत का कुंभ है - अमृत की बेल है; इसीमें एकाग्र होनेसे पर्याय में जिनवर के दर्शन होते हैं। परमात्मा प्रकट होते हैं, उसीको सम्यग्दर्शन कहते हैं। ३३०.

✽

निर्मल-पर्याय और त्रिकाली-द्रव्य का ज्ञान और अनुभव होने पर

दृष्टि का आसन तो अव्यक्त पर है, व्यक्त के प्रति वह उदासीन ही है। ३३२.

✽

ओहो हो ! आत्मा तो अनंत विभूतियों से मंडित अनंत गुणों की राशि, अनंत गुणों का विराट पर्वत है। वह सर्वांग पूर्ण गुणमय ही है, उसमें एक भी अवगुण नहीं। ओहो ! "यह मैं" - ऐसे आत्मा के दर्शन के लिए जीवने कभी सच्चा कौतूहल किया ही नहीं। ३३६.

✽

प्रश्न :- आत्मा की महिमा कैसे आवे ?

उत्तर :- आत्मवस्तु ज्ञानस्वरूप है, यह ज्ञायक तो अनंत गुणों का पिण्ड है, यह अखण्ड पूर्ण तत्त्व त्रिकाल अस्तिरूप है। इसका स्वरूप-इसकी सामर्थ्य अगाध पर आश्चर्यकारी है; जिसे समझे (भाव-भासन हो) तो आत्मा की महिमा और माहात्म्य आवे व राग का माहात्म्य छूट जाए। आत्मवस्तु कैसे अस्तितवाली है, कैसी सामर्थ्यवाली है ? इसका स्वरूप रुचिपूर्वक ख्याल में ले तो इसका माहात्म्य आवे और राग व अल्पज्ञता का माहात्म्य छूट जाए। एक समय की केवलज्ञान की पर्याय, तीनकाल-तीनलोक को जानने की सामर्थ्यवाली है, तो भी वह प्रतिक्षण नयी-नयी उत्पन्न होती है, तो उसके धारक त्रिकाली-द्रव्य की सामर्थ्य कितनी ? इस प्रकार आत्मा के आश्चर्यकारी स्वभाव को यथार्थतः खयाल में ले तो आत्मा की महिमा आवे। ३३७.

✽

पवित्र-वस्तु अपवित्र रूप से परिणमित हो तो वह उसकी शोभा नहीं। वस्तु अकषाय स्वरूप है, उसका अकषाय-भावरूप परिणमित होना वही उसकी शोभा है। एकरूपता जिसमें है - ऐसी वस्तु रागादि रूप परिणमित हो तो वह विविध रूपता है, जिससे वह अशोभनीय है। चैतन्य का जो त्रिकाली स्वरूप है उसका विचार करें तो एकरूपता ही शोभनीय है। सुंदर वस्तु है, सो सुंदर रूप से परिणमित हो तो

ही शोभा है। सत्शाश्वत-ज्ञान और आनंद-स्वरूप भगवान एकरूपता में रहे - वही उसकी शोभा है। (वस्तु) राग रहित निर्विकल्प स्वरूप है, अतः; निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रमय एकरूपता ही उसकी शोभा है। ३५८.

✽

भाई ! सब कुछ आत्मा में भरा हुआ है, बाहर में कुछ नहीं है। आत्मा में ज्ञान और सुख भरा हुआ है - वहाँ देख, वहाँ नजर कर तो तुझे ज्ञान और सुख मिलेंगे। बाहर में कहीं भी सुख नहीं है। अरे ! एक बेटा मर जाए और पीछे घर के लोग रोते हैं कि अरे बेटा ! तेरे बिना यह महल और मकान स्मशान जैसे लगते हैं। वैसे ही भाई ! आत्मा को जाने बिना बाहर में सब कुछ स्मशान जैसा है। ३७८.

✽

अहो ! जिसका क्षेत्र मर्यादित होने पर भी जिसके काल का अंत नहीं, जिसके गुणों का अंत नहीं, - ऐसी अनंत स्वभावी चैतन्य ज्योति सदा एकरूप चैतन्य स्वरूप ही रही है। आत्मवस्तु ही गंभीर स्वभावी है, जब तक इसकी गंभीरता भासित न हो तब-तक वास्तविक महिमा नहीं आती। इसकी गंभीरता भासित होने पर आत्मा की ऐसी महिमा आती है कि यह महिमा आते-आते विकल्पों को उलांघ जाती है, विकल्पों को तोड़ना नहीं पड़ता, पर वे टूट जाते हैं और अतीन्द्रिय आनंद का स्वानुभव होता है। ३९०.

✽

एक आत्मा ही सार है। व्यवहार-रत्नत्रय का विकल्प सार नहीं, एक समय की पर्याय भी सार नहीं है। सार का सार तो एक आत्मा ही है। चौदह ब्रह्माण्ड में सार का सार एक आत्मा ही है, इसके सिवाय अन्य सब कुछ निस्सार है। पैसा, लक्ष्मी, चक्रवर्तीपद, इन्द्रपद ये सभी निस्सार हैं। एक चैतन्य बादशाह ही जगत में सार है।

अनाकुल आनंद का कंद, ध्रुव, सामान्य वस्तु - वह एक ही सार है। चक्रवर्तीपद या इन्द्र का इन्द्रासन - वह भी सार नहीं है। ४०१.

卐

पर्याय के बगल में ही भगवान पूर्णानंद का नाथ बिराजमान है - वह सर्वोत्कृष्ट चीज है, आश्चर्यकारी चीज है। स्वयं का सर्वोत्कृष्ट भगवान आत्मा सिद्ध की पर्याय से भी सर्वोत्कृष्ट है; क्योंकि सिद्धदशा तो एक समय की पर्याय है और आत्मा तो अनंत सिद्ध-पर्याय जिसमें से प्रकट होती हैं - ऐसा द्रव्य है, वह सर्वोत्कृष्ट है। अपरिमित, अमर्यादित, ज्ञान-दर्शन आदि अनंत शक्तियों का पिण्ड सर्वोत्कृष्ट आत्मा है। सर्वोत्कृष्ट चीज को जो दृष्टि स्वीकार करे - वह सम्यग्दृष्टि है। पर्याय और गुणभेद को स्वीकार करने वाली दृष्टि सम्यक् नहीं। ४०२.

卐

भाई ! तू संसार के प्रसंगों को याद किया करता है, पर तू स्वयं पूर्णानंद का नाथ अनंत गुणरत्नों से भरा हुआ महाप्रभु सदा ऐसा का ऐसा ही रहता है - इसे याद कर न !! स्त्री-पुत्र आदि को इस प्रकार प्रसन्न रखा था और इस प्रकार भोगविलास में मौज-मजे मानें थे - ऐसे याद करता है - स्मरण करता है, पर ये सब तो तेरे दुःख के कारण हैं। सुख का कारण तो तेरा स्वभाव है। वह तो सदा ही शुद्ध रूप से, ऐसा का ऐसा ही विद्यमान है। चार गतियों में भ्रमण करने पर भी तेरा स्वभाव सुखसागर से भरा हुआ ऐसा का ऐसा ही रहा है - उसे याद कर न ! उसका स्मरण कर न ! यह एक ही तेरी सुख-शांति का कारण होगा। ४२०.

卐

आत्मा में अनंत गुण भरे हैं व एक-एक गुण में अनंत गुणों का रूप है व एक-एक गुण में अनंत पर्याय प्रकट करने की शक्ति है। तेरा स्वदेश भगवान ! अनंत गुणों की अद्भुत ऋद्धियों से युक्त

है। उसमें एक बार दृष्टि दे तो तुझे संतोष मिलेगा - आनंद मिलेगा। पुण्य-पाप के परिणाम में दृष्टि देने से तो दुःख का वेदन होता है। ४२८.

卐

तू ज्ञायक निष्क्रिय-तल के उपर दृष्टि स्थापित कर न ! पर्याय पर किस लिए जोर देता है ? यह मेरी क्षयोपशम की पर्याय विकसित हुयी - यह मेरी पर्याय हुयी - ऐसे पर्याय पर किसलिए जोर देता है ? पर्यायरूप पलटते अंश में त्रिकाली-वस्तु कहाँ आती है ? त्रिकाली-ध्रुवदल - जो नित्यानंद प्रभु है - उस पर जोर दे न। ४४७.

卐

त्रिकाली - ध्रुव आत्म-द्रव्य को पकड़ने पर ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है, उसे पकड़ने पर ही चारित्र होता है, उसे पकड़ने पर ही केवलज्ञान होता है। धर्मी की दृष्टि आत्म-द्रव्यपर से नहीं खिसकती; और जो यह दृष्टि वहाँ से खिसक कर वर्तमान पर्याय में रुके, एक समय की पर्याय में चोटें, पर्याय की रुचि हो जाए - तो वस्तु की दृष्टि छूट जाए और वह मिथ्यादृष्टि हो जाए। जो एक समय की पर्याय की महिमा-महत्ता लगे तो द्रव्य पर से दृष्टि खिसक जाती है। एक समय की निर्मल-पर्याय की भी रुचि हो जाए तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। ४५५.

卐

सम्यग्दर्शन याने ? - कि जैसा और जितना तत्त्व है उसकी वैसी ही प्रतीति होना सो सम्यग्दर्शन है। महा अस्तित्वमयी प्रकट वस्तु है वह अनंतकाल और अनंत-भव बीत जाने पर भी ऐसी ही है - वाह तत्त्व !! चाहे जैसे परिणाम हुए फिर भी वस्तु में विभ्रमता अथवा न्यूनता नहीं आयी। महा ग्रहीतमिथ्यात्व के परिणाम हुए तो भी जो वस्तु है उसमें कोई विकार या मलिनता नहीं आयी - यह सर्वज्ञ परमात्मा की पुकार है। ४५८.

भगवान आत्मा अनंतगुण-स्वरूप प्रभु हैं। उसके एक-एक गुण में अनंत-अनंत गुणों का रूप है; पर उसमें राग का रूप नहीं है। एक समय में अनंत-अनंत गुणों का सागर प्रभु है, उसके एक-एक गुण में उसके अनंत-अनंत गुणों का रूप है। एक गुण अन्य गुण में नहीं, पर एक गुण का रूप दूसरे गुण में है; परंतु व्यवहाररत्नत्रय का राग आत्मा का कोई गुण नहीं है, इसीलिए राग का रूप किसी गुण में नहीं है। अतः भगवान आत्मा राग का कारण नहीं और राग अपनी आनंद की पर्याय का कारण नहीं है। ४७३.

✽

प्रश्न :- आत्मा के अनंत गुणों की और उसकी अनंत पर्यायों की सामर्थ्य की इतनी अधिक महिमा करते हो तो, तिर्यच को ऐसा खयाल कहाँ है ?

उत्तर :- तिर्यच को वस्तु की महिमा प्रतीति में आ जाती है। वस्तु की अनंत-अनंत महिमा प्रतीति में आ जाती है। ४८२.

✽

अरे भाई ! सुन...सुन ! हम तो आत्मा के दर्शन करके यह बात करते हैं। भगवान आत्मा सदा ही आनंदमय, सदा ही वीर्यमय, सदा ही शिवमय - ऐसा परमात्मतत्त्व है। उसके संदर्भ में दया-दान आदि करने की कहने में, तो लज्जा आती है। अरे ! तू 'इतना महान् परमात्मस्वरूप सदा ही कल्याणमय है कि तुझमें ध्यान करने की कहने में, भी लज्जा आती है। ५०१.

✽

आहा हा ! दिगंबर संतों की वाणी तो देखो ! चीर-फाड़ करती हुयी त्रिकाली चैतन्यतत्त्व को बतलाती है। आहा हा ! शुद्धनय तो ध्यान करने की भी नहीं कहता; शुद्धनय पर्याय को भी स्वीकार नहीं करता, यह तो सदा ही आनंदस्वरूप शुद्ध परमात्मतत्त्व ही को स्वीकार करता है। आहा हा ! भाई, तेरे पूर्ण प्रभु की महिमा तो

देख ! ५०२.

✽

सम्यग्ज्ञान का आभूषण - यह परमात्मतत्त्व समस्त विकल्प समूह से सर्वतः मुक्त है। सम्यग्ज्ञान का आभूषण - ऐसे परमात्मतत्त्व - त्रिकाली तत्त्व में अनेक प्रकार के विकल्पों के समूह का अभाव है। सर्व नय संबंधी अनेक प्रकार के विचार भी प्रपंच हैं, ये भी त्रिकाली परमात्मतत्त्व में नहीं हैं। इन विकल्पों की बात तो दूर; परंतु शुद्ध पर्याय की श्रेणी निर्मल-पर्याय की धारारूप ध्यानावली का भी परमात्मतत्त्व में अभाव है। जो ध्यानावली का ध्येय है ऐसे परमात्मतत्त्व में ध्यान की परिणति रूप पर्यायें - ध्यानावली नहीं हैं। भाई, तू तो सदा ऐसा परमात्मस्वरूप ही है। ५०७.

✽

(परम) शुद्ध निश्चयनय से मुक्ति व संसार में कोई अंतर नहीं है। आहा हा ! कहाँ पूर्णानंद की प्रकटतारूप मुक्त-दशा और कहाँ अनंत दुःखमय संसारदशा। फिर भी मुक्ति और संसार में अंतर नहीं - ऐसा शुद्ध तत्त्व के रसिकजन कहते हैं। क्योंकि संसार तो पर्याय है और मुक्ति भी पर्याय है तथा कोई भी पर्याय आश्रय करने योग्य नहीं है। इस अपेक्षा से मुक्ति और संसार में कोई अंतर नहीं है - ऐसा शुद्धतत्त्व के रसिकजन अर्थात् शुद्धतत्त्व के अनुभवी पुरुषों का कहना है। ५०९.

✽

सम्यक्ज्ञान के आभूषणरूप परमात्मतत्त्व में दया-दान आदि के विकल्प-समूह नहीं हैं - ऐसे आत्मा को अंतर में पहचानना, पहचान कर श्रद्धा करना - इसीका नाम धर्म है। समस्त विकल्पों अर्थात् दया-दान आदि के राग या गुण-गुणी के भेद का राग - ज्ञान से शोभित आत्मतत्त्व में नहीं है। ५२६.

✽

लिंग का अर्थात् उपयोग नामक लक्षण का पर-द्वारा ग्रहण अथवा हरण नहीं हो सकता। आत्मा ! आनंद का नाथ प्रभु-ज्ञान का सागर-ध्रुव-भगवान चैतन्यमय प्रभु है - उसके अवलंबन से जो उपयोग प्रकट हुआ; उस उपयोग को हरने की, लूटने की, नाश करने की, चुराने की दुनिया में किसीकी ताकत नहीं है। ५३१.

✽

आत्मलक्ष्मी ही सच्ची लक्ष्मी है और वही साहूकार है। जड़-लक्ष्मी वाला तो पर को अपना मानता होनेसे, चोर है। आत्मलक्ष्मी की महिमा आए तो अन्य सब की महिमा उड़ जाती है। ५३८.

✽

शक्तियों का वर्णन करने का हेतु तो यह है कि बाह्य में तेरे ज्ञान, आनंद, सुख-शांति नहीं है; अंतर में ही तेरी शक्तियों का निधान भरा पड़ा है - उस पर दृष्टि कर व बाहर से दृष्टि हटा ले। अंतरंग ज्ञान-दर्शन-आनंद-सुख-वीर्य-प्रभुता आदि शक्तियों द्वारा जीना ही धर्मी जीव का जीवन है। बाह्य देहादि से जीना सो धर्मी जीव का जीवन नहीं है। अंतर में अनंत शक्तियों का भण्डाररूप भगवान-सहजानंद मूर्ति विराजमान-अवस्थित है - उसकी दृष्टि व विश्वास पूर्वक जीना ही यथार्थ जीवन है। ५५६.

✽

प्रश्न :- ध्रुव की कीमत अधिक या आनंद के अनुभव की ?

उत्तर :- ध्रुव की कीमत अधिक है। आनंद की पर्याय तो एक समय की है तथा ध्रुव में तो आनंद का अटूट भण्डार है। ५६५.

✽

जीव को एक समय भी संसार का विस्मरण नहीं हुआ। जो एक समय भी विस्मरण हो तो इसके हित का शुभारंभ हो। जिसकी सत्ता का कभी विरह न हुआ, जिसकी सत्ता में कभी अपूर्णता न हुयी, जिसकी सत्ता किसी के अधीनस्थ न हुयी - ऐसी जो त्रिकाल-

निरावरण वस्तु है उसकी नजरबंदी हो जानी चाहिए। उस द्रव्य पर ही दृष्टि बंधी रहनी चाहिए। मुझे मेरे सिवा अन्य किसीका आश्रय नहीं - इस प्रकार ध्रुव पर नजरबंदी हो जानी चाहिए। ५८०.

✽

प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं अथवा मुक्ति की पर्याय को आना हो तो आवे ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, पुरुषार्थ करते हैं, तथा मुक्ति की पर्याय को आना हो तो आवे; अर्थात् उसकी दृष्टि मात्र द्रव्य पर ही होनेसे मुक्ति की पर्याय तो (अवश्य) आने वाली ही है। ५९२.

✽

सिद्ध भगवान में जैसी सर्वज्ञता, जैसी प्रभुता, जैसा अतीन्द्रिय-आनंद और जैसा आत्मवीर्य है; वैसी ही सर्वज्ञता-प्रभुता-आनंद और वीर्यशक्ति तेरे आत्मा में भी भरी है।

भाई, एक बार हर्षित तो हो कि अहो ! मेरा आत्मा ऐसा परमात्म-स्वरूप है। ज्ञानानंद-शक्ति से भरपूर है. मेरे आत्मा की शक्ति खो नहीं गयी है। अरेरे ! मैं हीन हो गया हूँ, विकारी हो गया हूँ, अब मेरा क्या होगा ? - ऐसे न डर, बेचैन न हो, हताश न हो। एक बार स्वभाव के प्रति उत्साह ला। स्वभाव की महिमा लाकर अपनी शक्ति को उछाल। ५९३.

✽

भाई ! तुझे पता ही नहीं, तेरी वस्तु तो अंतर में अभेद ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव सामान्य एकरूप चली आ रही है। चाहे जितनी पर्यायें आए, परंतु वस्तु तो सामान्य एकरूप ही चली आती है। ऐसे एकरूप की दृष्टि करने पर, उसमें रहे हुए गुणों के भेद का भी लक्ष्य छूट जाता है तथा भेद व गुण-विशेषता का लक्ष्य छूटने और अभेद पर दृष्टि पड़ने पर तुझे आनंद का आस्वादन होगा; तभी तुझे धर्म होगा। ५९६.

भाई ! यह कोई वाद-विवाद का विषय नहीं है; यह तो अंतर का विषय है। अभी तो व्रत-तप कर उससे धर्म मानने-वाले तो स्थूल मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी हैं। पर्याय का लक्ष्य करोगे तो राग व दुःख होगा। निर्मल-पर्याय का भी लक्ष्य व आश्रय करोगे तो विकल्प उठेंगे। भगवान त्रिकाली-वस्तु तो पर्याय को छूती ही नहीं। जब पर्याय स्पर्श ही नहीं करती तो फिर तुझे पर्याय का लक्ष्य करने से क्या प्रयोजन ? अंतर में परिपूर्ण भगवान आत्मा है, उसका स्पर्श कर न ! स्पर्श करने वाली पर्याय भी द्रव्य में नहीं है। जैनदर्शन-वीतरागमार्ग बहुत ही सूक्ष्म है। दिगंबर-दर्शन में ही यह बात है। ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है। ५९९.

卐

प्रश्न :- जीव, भले ही अजीव के कार्य न कर सके पर अपने परिणाम तो चाहे अनुसार कर सकता है न ?

उत्तर :- जीव अपने परिणाम भी चाहे अनुसार नहीं कर सकता, परंतु जो परिणाम क्रमानुसार होने हैं - वही होते हैं; उन्हें चाहे जैसे आगे-पीछे, उल्टे-सुल्टे नहीं कर सकते। जगत में सब कुछ व्यवस्थित क्रमानुसार होता है, कहीं कुछ भी फेर-फार नहीं हो सकता। अधीर मनुष्य (परिणाम में) फेरफार करना भले ही माने; परंतु कुछ भी फेरफार नहीं हो सकता - इसका सार यह है कि, भाई ! तू ध्रुव-स्वभाव पर दृष्टि दे। ६०५.

卐

प्रश्न :- बाह्य में तो चमत्कार दिखलाते हैं, तो यहाँ भी कुछ चमत्कार है क्या ?

उत्तर :- हाँ; यह आत्मा स्वयं ही ऐसा चैतन्यचमत्कार है कि उसकी प्रतीति कर उसमें एकाग्र होनेसे केवलज्ञान प्रकट हो जाता है - देखो, यह है चैतन्य का चमत्कार ! सर्वज्ञ के अलावा अन्यत्र कहीं भी ऐसा चमत्कार हो तो बतलाओ ! तथा प्रत्येक आत्मा असंख्य-

प्रदेशी है - यह बात भी अन्य कहीं हो तो बतलाओ ? ६५९.

卐

द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से ऐसे कहा जाता है कि आत्मा में विकार ही नहीं है, विकार तो पुद्गल का कार्य है; परंतु ऐसी द्रव्यदृष्टि किसे होती है ? - कि जिसे पर्याय की स्वतंत्रता का भान हो उसे। अभी-तक तो जोपर्याय को ही स्वाधीन न जाने, उसे तीनोंकाल की पर्याय के पिण्डरूप-द्रव्य की दृष्टि कैसे हो ? पर्याय में विकार हैं, उन्हें कर्मों ने नहीं करवाए हैं; परंतु वे मेरे अपराध के कारण से हैं। ऐसे अंश के स्वतंत्र जाने तथा यह भी कि उस अंश जितना ही त्रिकाल-स्वभाव नहीं है, तो द्रव्यदृष्टि हो। परंतु ऐसा माने कि कर्म ही विकार कराते हैं; तो उस जीव को पर्याय का भी भान नहीं है, व उसे द्रव्यदृष्टि नहीं होती। ७६४.

卐

“मैं एक समय में ही चिदानंद परिपूर्ण हूँ” ... ऐसी प्रतीति होने के बाद अल्प राग रहता है जिसे “पर” के पक्ष में डाल देते हैं।

१००५.



['बहिनश्री के वचनामृत' में से उद्धृत रत्न]

हम सब को सिद्धस्वरूप ही देखते हैं, हम तो सब को चैतन्य ही देख रहे हैं। हम किन्हीं को राग-द्वेषवाले देखते ही नहीं। वे अपने को भले ही चाहे जैसा मानते हों, परंतु जिसे चैतन्य - आत्मा प्रकाशित हुआ उसे सब चैतन्यमय ही भासित होता है। १०.

✽

जिसे द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई उसकी दृष्टि अब चैतन्य के तल पर ही लगी है। उसमें परिणति एकमेक हो गई है। चैतन्य-तल में ही सहज दृष्टि है। स्वानुभूति के काल में या बाहर उपयोग हो तब भी तल पर से दृष्टि नहीं हटती, दृष्टि बाहर जाती ही नहीं। ज्ञानी चैतन्य के पाताल में पहुँच गये हैं; गहरी-गहरी गुफा में, बहुत गहराई तक पहुँच गये हैं; साधना की सहज दशा साधी हुई है। १२.

✽

दृष्टि द्रव्य पर रखना है। विकल्प आये परंतु दृष्टि एक द्रव्य पर है। जिस प्रकार पतंग आकाश में उड़ती है परंतु डोर हाथ में होती है, उसी प्रकार 'चैतन्य हूँ' यह डोर हाथ में रखना। विकल्प आये, परंतु चैतन्यतत्त्व सो मैं हूँ - ऐसा बारंबार अभ्यास करने से दढ़ता होती है। १८.

✽

सब कुछ आत्मा में है, बाहर कुछ नहीं है। तुझे कुछ भी जानने

की इच्छा होती हो तो तू अपने आत्मा की साधना कर। पूर्णता प्रगट होने पर लोकालोक उसमें ज्ञेयरूप से ज्ञात होगा। जगत जगत में रहे तथापि केवलज्ञान में सब ज्ञात होता है। जाननहार तत्त्व पूर्णतारूप परिणमने पर उसकी जानकारी से बाहर कुछ नहीं रहता और साथ ही साथ आनंदादि अनेक नवीनताएँ प्रगट होती हैं। ७०.

✽

अंतर में आत्मा मंगलस्वरूप है। आत्मा का आश्रय करने से मंगलस्वरूप पर्यायें प्रगट होंगी। आत्मा ही मंगल, उत्तम और नमस्कार करने योग्य है - इस प्रकार यथार्थ प्रतीति कर और उसीका ध्यान कर तो मंगलता एवं उत्तमता प्रगट होगी। ८३.

✽

आत्मा ही एक सार है, अन्य सब निःसार है। सब चिंता छोड़कर एक आत्मा की ही चिंता कर। कुछ भी करके चैतन्यस्वरूप आत्मा को पकड़; तभी तू संसाररूपी मगर के मुँहमें से छूट सकेगा। ९६.

✽

'मैं अनादि-अनंत मुक्त हूँ' - इस प्रकार शुद्ध आत्मद्रव्य पर दृष्टि देने से शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। 'द्रव्य तो मुक्त है, मुक्ति की पर्याय को आना हो तो आये' इस प्रकार द्रव्य के प्रति आलंबन और पर्याय के प्रति अपेक्षावृत्ति होने पर स्वाभाविक शुद्ध पर्याय प्रगट होती ही है। १००.

✽

आत्मा सर्वोत्कृष्ट है, आश्चर्यकारी है। जगत में उससे ऊँची वस्तु नहीं है। उसे कोई ले जा नहीं सकता। जो छूट जाती है वह तो तुच्छ वस्तु है; उसे छोड़ते हुए तुझे डर क्यों लगता है ? १०२.

✽

'मैं शुद्ध हूँ' ऐसा स्वीकार करने से पर्याय की रचना शुद्ध ही होती है। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। १०४.

आत्मा ने तो परमार्थ से त्रिकाल एक ज्ञायकपने का ही वेश धारण किया हुआ है। ज्ञायक तत्त्व को परमार्थ से कोई पर्यायवेश नहीं है, कोई पर्याय-अपेक्षा नहीं है। आत्मा 'मुनि है' या 'केवलज्ञानी है' या 'सिद्ध है' ऐसी एक भी पर्याय-अपेक्षा वास्तव में ज्ञायक पदार्थ को नहीं है। ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। १०५.

卐

चैतन्यस्वरूप आत्मा तेरा अपना है इसलिये उसे प्राप्त करना सुगम है। परपदार्थ पर का है, अपना नहीं होता, अपना बनाने में मात्र आकुलता होती है। १०६.

卐

शाश्वत शुद्धिधाम ऐसा जो बलवान आत्मद्रव्य, उसकी दृष्टि प्रगट हुई तो शुद्ध पर्याय प्रगट होती ही है। विकल्प के भेद से शुद्ध पर्याय प्रगट नहीं होती। एक को ग्रहण किया उसमें सब आ जाता है। दृष्टि के साथ रहा हुआ सम्यग्ज्ञान विवेक करता है। १०७.

卐

जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो चैतन्य से बढ़कर हो। तू इस चैतन्य में - आत्मा में स्थिर हो, निवास कर। आत्मा दिव्य ज्ञान से, अनंत गुणों से समृद्ध है। अहा ! चैतन्य की ऋद्धि अगाध है। १०८.

卐

परमात्मा सर्वोत्कृष्ट कहलाता है। तू स्वयं ही परमात्मा है। १११.

卐

सहज तत्त्व अखण्डित है। चाहे जितना काल गया, चाहे जितने विभाव हुए, तथापि परम पारिणामिक भाव ज्यों का त्यों अखण्ड रहा है; कोई गुण अंशतः भी खण्डित नहीं हुआ है। ११२.

जिसे भगवान का प्रेम हो वह भगवान को देखता रहता है, उसी प्रकार चैतन्यदेव का प्रेमी चैतन्य चैतन्य ही करता रहता है। ११४.

चैतन्यरूपी आकाश की रम्यता सदाकाल जयवंत है। जगत के आकाश में चंद्रमा और तारमंडल की रम्यता होती है, चैतन्य-आकाश में अनेक गुणों की रम्यता है। वह रम्यता कोई और ही प्रकार की है। स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट करने से वह रम्यता ज्ञात होती है। स्वानुभूति की रम्यता भी कोई और ही है, अनुपम है। १२३.

卐

निजचैतन्यदेव स्वयं चक्रवर्ती है, उसमें से अनंत रत्नों की प्राप्ति होगी। अनंत गुणों की जो ऋद्धि प्रगट होती है वह अपने में है। १३०.

卐

चैतन्यलोक में अंदर जा। अलौकिक शोभा से भरपूर अनंत गुण चैतन्यलोक में हैं; उसमें निर्विकल्प होकर जा, उसकी शोभा निहार। १४८.

卐

शुद्ध तत्त्व की दृष्टि प्रगट करके उस नौका में बैठ गया वह तर गया। १५०.

卐

आत्मा तो चैतन्यस्वरूप, अनंत अनुपम गुणवाला चमत्कारिक पदार्थ है। ज्ञायक के साथ ज्ञान ही नहीं, दूसरे अनंत आश्चर्यकारी गुण हैं जिनकी किसी अन्य पदार्थ के साथ तुलना नहीं हो सकती। निर्मल पर्यायरूप परिणामित होने पर, जिस प्रकार कमल सर्व पंखुरियों से खिल उठता है उसी प्रकार आत्मा गुणरूपी अनंत पंखुरियों से खिल उठता है। १६३.

卐

जिसे चैतन्यदेव की महिमा नहीं है उसे अंतर में निवास करना दुर्लभ है। १६५.

卐

एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा सकती। चैतन्य की महिमा और संसार की महिमा दो एकसाथ नहीं रह सकतीं। कुछ जीव मात्र क्षणिक वैराग्य करते हैं कि संसार अशरण है, अनित्य है, उन्हें चैतन्य की समीपता नहीं होती। परंतु चैतन्य की महिमापूर्वक जिसे विभावों की महिमा छूट जाय, चैतन्य की कोई अपूर्वता लगने से संसार की महिमा छूट जाय, वह चैतन्य के समीप आता है। चैतन्य तो कोई अपूर्व वस्तु है; उसकी पहिचान करनी चाहिये, महिमा करनी चाहिये। १७१.

卐

चैतन्यदेव रमणीय है, उसे पहिचान। बाहर रमणीयता नहीं है। शाश्वत आत्मा रमणीय है, उसे ग्रहण कर। क्रियाकांड के आडंबर, विविध विकल्परूप कोलाहल, उस पर से दृष्टि हटा ले; आत्मा आडंबर रहित, निर्विकल्प है, वहाँ दृष्टि लगा; चैतन्यरमणता रहित विकल्पों के कोलाहल में तुझे थकान लगेगी, विश्राम नहीं मिलेगा; तेरा विश्रामगृह आत्मा है; उसमें जा तो तुझे थकान नहीं लगेगी, शांति प्राप्त होगी। १८३.

卐

अपरिणामी निज आत्मा का आश्रय लेने को कहा जाता है वहाँ अपरिणामी मानें पूर्ण ज्ञायक; शास्त्र में निश्चयनय के विषयभूत जो अखण्ड ज्ञायक कहा है वही यह 'अपरिणामी' निजात्मा।

प्रमाण-अपेक्षा से आत्मद्रव्य मात्र अपरिणामी ही नहीं है, अपरिणामी तथा परिणामी है। परंतु अपरिणामी तत्त्व पर दृष्टि देने से परिणाम गौण हो जाते हैं; परिणाम कहीं चले नहीं जाते। परिणाम कहाँ चले जायँ ? परिणामन तो पर्यायस्वभाव के कारण होता ही रहता है, सिद्ध में भी परिणति तो होती है।

परंतु अपरिणामी तत्त्व पर - ज्ञायक पर - दृष्टि ही सम्यक् दृष्टि है। इसलिये 'यह मेरी ज्ञान की पर्याय', 'यह मेरी द्रव्य की पर्याय'

इस प्रकार पर्याय में किसलिये रुकता है ? निष्क्रिय तत्त्व पर - तल पर - दृष्टि स्थापित कर न !

परिणाम तो होते ही रहेंगे। परंतु यह मेरी अमुक गुणपर्याय हुई, यह मेरे ऐसे परिणाम हुए - ऐसा जोर किसलिये देता है ? पर्याय में - पलटते अंश में - द्रव्य का परिपूर्ण नित्य सामर्थ्य थोड़ा ही आता है ? उस परिपूर्ण नित्य सामर्थ्य का अवलंबन कर न !

ज्ञानानंदसागर की तरंगों को न देखकर उसके दल पर दृष्टि स्थापित कर। तरंगें तो उछलती ही रहेंगी; तू उनका अवलंबन किसलिये लेता है ?

अनंत गुणों के भेद पर से भी दृष्टि हटा ले। अनंत गुणमय एक नित्य निजतत्त्व - अपरिणामी अभेद एक दल - उसमें दृष्टि दे। पूर्ण नित्य अभेद का जोर ला; तू ज्ञातादृष्टा हो जायगा। २०१.

卐

चैतन्य की अगाधता, अपूर्वता और अनंतता बतलानेवाले गुरु के वचनों द्वारा शुद्धात्मदेव को बराबर जाना जा सकता है। चैतन्य की महिमापूर्वक संसार की महिमा छूटे तभी चैतन्यदेव समीप आता है।

हे शुद्धात्मदेव ! तेरी शरण में आने से ही यह पंचपरावर्तनरूपी रोग शांत होता है। जिसे चैतन्यदेव की महिमा आयी उसे संसार की महिमा छूट ही जाती है। अहो ! मेरे चैतन्यदेव में तो परम विश्रान्ति है, बाहर निकलने पर तो अशांति का ही अनुभव होता है।

मैं निर्विकल्प तत्त्व ही हूँ। ज्ञानानंद से भरा हुआ जो निर्विकल्प तत्त्व, बस वही मुझे चाहिये, दूसरा कुछ नहीं चाहिये। २०५.

卐

ज्ञानी ने चैतन्य का अस्तित्व ग्रहण किया है। अभेद में ही दृष्टि है : 'मैं तो ज्ञानानंदमय एक वस्तु हूँ। उसे विश्रान्ति का महल मिल गया है, जिसमें अनंत आनंद भरा है। शांति का स्थान, आनंद का स्थान - ऐसा पवित्र उज्ज्वल आत्मा है। वहाँ - ज्ञायक में - रहकर

ज्ञान सब करता है परंतु दृष्टि तो अभेद पर ही है। ज्ञान सब करता है परंतु दृष्टि का जोर इतना है कि अपने को अपनी ओर खींचता है। २०६.

卐

जो वास्तव में संसार से थक गया है उसी को सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। वस्तु की महिमा बराबर खायल में आ जाने पर वह संसार से इतना अधिक थक जाता है कि 'मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, एक निज आत्मद्रव्य ही चाहिये' ऐसी दृढ़ता करके बस 'द्रव्य सो ही मैं हूँ' ऐसे भावरूप परिणमित हो जाता है, अन्य सब निकाल देता है।

दृष्टि एक भी भेद को स्वीकार नहीं करती। शाश्वत द्रव्य पर स्थिर हुई दृष्टि यह देखने नहीं बैठती कि 'मुझे सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान हुआ या नहीं।' उसे - द्रव्यदृष्टिवान जीव को - खबर है कि अनंत काल में अनंत जीवों ने इस प्रकार द्रव्य पर दृष्टि जमाकर अनंत विभूति प्रगट की है। द्रव्यदृष्टि होने पर द्रव्य में जो-जो हो वह प्रगट होता ही है; तथापि 'मुझे सम्यग्दर्शन हुआ, मुझे अनुभूति हुई' इस प्रकार दृष्टि पर्याय में चिपकती नहीं है। वह तो प्रारंभ से पूर्णता तक, सब को निकालकर, द्रव्य पर ही जमी रहती है। किसी भी प्रकार की आशा बिना बिलकुल निस्पृहभाव से ही दृष्टि प्रगट होती है। २१६.

卐

द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सब होने पर भी कहीं द्रव्य और पर्याय दोनों समान कोटि के नहीं हैं; द्रव्य की कोटि उच्च ही है, पर्याय की कोटि निम्न ही है। द्रव्यदृष्टिवान को अंतर में इतना अधिक रस-कसयुक्त तत्त्व दिखायी देता है कि उसकी दृष्टि पर्याय में नहीं चिपकती। भले ही अनुभूति हो, परंतु दृष्टि अनुभूति में - पर्याय में - चिपक नहीं जाती। 'अहा ! ऐसा आश्चर्यकारी द्रव्यस्वभाव प्रगट हुआ

अर्थात् अनुभव में आया !' ऐसा ज्ञान जानता है, परंतु दृष्टि तो शाश्वत स्तंभ पर - द्रव्यस्वभाव पर - जमी सो जमी ही रहती है। २१७.

卐

अपना अगाध गंभीर ज्ञायकस्वभाव पूर्ण रीति से देखने पर समस्त लोकालोक भूत-भविष्य की पर्यायों सहित समयमात्र में ज्ञात हो जाता है। अधिक जानने की आकांक्षा से बस होओ, स्वरूप निश्चल ही रहना योग्य है। २२६.

卐

शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की स्वानुभूति सुखरूप है। आत्मा स्वयमेव मंगलरूप है, आनंदरूप है; इसलिये आत्मा की अनुभूति भी मंगलरूप एवं आनंदरूप है। २२७.

卐

आत्मा के अस्तित्व को पहिचानकर स्वरूप में स्थिर हो जा, बस !.... तेरा अस्तित्व आश्चर्यकारी अनंत गुणपर्याय से भरा है; उसका संपूर्ण स्वरूप भगवान की वाणी में भी पूरा नहीं आ सकता। उसका अनुभव करके उसमें स्थिर हो जा। २२८.

卐

आत्मा के गुण गाते-गाते गुणी हो गया - भगवान हो गया; असंख्य प्रदेशों में अनंत गुणरत्नों के कमरे सब खुल गये। २३१.

卐

ओहो ! यह तो भगवान आत्मा ! सर्वांग सहजानंद की मूर्ति ! जहाँ से देखो वहाँ आनंद, आनंद और आनंद। जैसे मिश्री में सर्वांग मिठास वैसे ही आत्मा में सर्वांग आनंद। २४१.

ज्ञायक आत्मा नित्य एवं अभेद है; दृष्टि के विषयभूत ऐसे उसके स्वरूप में अनित्य शुद्धाशुद्ध पर्यायें या गुणभेद कुछ हैं ही नहीं। प्रयोजन की सिद्धि के लिये यही परमार्थ-आत्मा है। उसीके आश्रय से धर्म

प्रगट होता है। २४३.

卐

ओहो ! आत्मा तो अनंत विभूतियों से भरपूर, अनंत गुणों की राशि, अनंत गुणों का विशाल पर्वत है ! चारों ओर गुण ही भरे हैं। अवगुण एक भी नहीं है। ओहो ! यह मैं ? ऐसे आत्मा के दर्शन के लिये जीवने कभी सच्चा कौतूहल ही नहीं किया। २४४.

卐

विश्व का अद्भुत तत्त्व तू ही है। उसके अंदर जाने पर तेरे अनंत गुणों का बगीचा खिल उठेगा। वहीं ज्ञान मिलेगा, वहीं आनंद मिलेगा; वहीं विहार कर। अनंत काल का विश्राम वहीं है। २४८.

卐

आत्मा को तीन काल की प्रतीति करने के लिये ऐसे विकल्प नहीं करना पड़ते कि 'मैं भूतकाल में शुद्ध था, वर्तमान में शुद्ध हूँ, भविष्य में शुद्ध रहूँगा'; परंतु वर्तमान एक समय की प्रतीति में तीनों काल की प्रतीति समा जाती है - आ जाती है। २५३.

卐

दृष्टि पूर्ण आत्मा पर रखकर तू आगे बढ़ तो सिद्ध भगवान जैसी दशा हो जायगी। यदि स्वभाव में अधूरापन मानेगा तो पूर्णता को कभी प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसलिये तू अधूरा नहीं, पूर्ण है - ऐसा मान। २६१.

卐

सम्यग्दृष्टि को अखण्ड तत्त्व का आश्रय है, अखण्ड पर से दृष्टि छूट जाये तो साधकपना ही न रहे। दृष्टि तो अंतर में है। चारित्र में अपूर्णता है। वह बाहर खड़ा दिखायी दे परंतु दृष्टि तो स्व में ही है। ३०३.

卐

भगवान की प्रतिमा देखकर ऐसा लगे कि अहा ! भगवान कैसे

स्थिर हो गये हैं ! कैसे समा गये हैं ! चैतन्य का प्रतिबिंब है ! तू ऐसा ही है ! जैसे भगवान पवित्र हैं, वैसा ही तू पवित्र है, निष्क्रिय है, निर्विकल्प है। चैतन्य के सामने सब कुछ पानी भरता है। ३०४.

卐

चैतन्यलोक अद्भुत है। उसमें ऋद्धि की न्यूनता नहीं है। रमणीयता से भरे हुए इस चैतन्यलोकमें से बाहर आना नहीं सुहाता। ज्ञान की ऐसी शक्ति है कि जीव एक ही समय में इस निज ऋद्धि को तथा अन्य सब को जान ले। वह अपने क्षेत्र में निवास करता हुआ जानता है; श्रम पड़े बिना, खेद हुए बिना जानता है। अंतर में रहकर सब जान लेता है, बाहर झाँकने नहीं जाना पड़ता। ३१०.

卐

द्रव्यदृष्टि शुद्ध अंतःतत्त्व का ही अवलंबन करती है। निर्मल पर्याय भी बहिःतत्त्व है, उसका अवलंबन द्रव्यदृष्टि में नहीं है। ३१५.

卐

अपनी महिमा ही अपने को तारती है। बाहरी भक्ति-महिमा से नहीं परंतु चैतन्य की परिणति में चैतन्य की निज महिमा से तरा जाता है। चैतन्य की महिमावंत को भगवान की सच्ची महिमा होती है। अथवा भगवान की महिमा समझना वह निज चैतन्य-महिमा को समझने में निमित्त होता है। ३१६.

卐

पर्याय पर दृष्टि रखने से चैतन्य प्रगट नहीं होता, द्रव्यदृष्टि करने से ही चैतन्य प्रगट होता है। द्रव्य में अनंत सामर्थ्य भरा है, उस द्रव्य पर दृष्टि लगाओ। निगोद से लेकर सिद्ध तक की कोई भी पर्याय शुद्ध दृष्टि का विषय नहीं है। साधकदशा भी शुद्ध दृष्टि के विषयभूत मूल स्वभाव में नहीं है। द्रव्यदृष्टि करने से ही आगे बढ़ा जा सकता है, शुद्ध पर्याय की दृष्टि से भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। द्रव्यदृष्टि में मात्र शुद्ध अखण्ड द्रव्यसामान्य का ही स्वीकार

होता है। ३२१.

✽

ज्ञानी को स्वानुभूति के समय या उपयोग बाहर आये तब दृष्टि तो सदा अंतस्तल पर ही लगी रहती है। बाह्य में एकमेक हुआ दिखायी दे तब भी वह तो (दृष्टि-अपेक्षा से) गहरी अंतर्गुफामें से बाहर निकलता ही नहीं। ३२५.

✽

कर्मों के विविध विपाक में ज्ञायकभाव चलित नहीं होता। जिस प्रकार कीचड़ में कमल निर्लेप रहता है, उसी प्रकार चैतन्य भी चाहे जैसे कर्मसंयोग में निर्लेप रहता है। ३३६.

✽

निज चेतनपदार्थ के आश्रय से अनंत अद्भुत आत्मिक विभूति प्रगट होती है। अगाध शक्तिमें से क्या नहीं आता ? ३४१.

✽

जब तक सामान्य तत्त्व - ध्रुव तत्त्व - खयाल में न आये, तब तक अंतर में मार्ग कहाँ से सूझे और कहाँ से प्रगट हो ? इसलिये सामान्य तत्त्व को खयाल में लेकर उसका आश्रय करना चाहिये। साधक को आश्रय तो प्रारंभ से पूर्णता तक एक ज्ञायक का ही - द्रव्यसामान्य का ही - ध्रुव तत्त्व का ही होता है। ज्ञायक का - 'ध्रुव' का जोर एक क्षण भी नहीं हटता। दृष्टि ज्ञायक के सिवा किसी को स्वीकार नहीं करती - ध्रुव के सिवा किसी पर ध्यान नहीं देती; अशुद्ध पर्याय पर नहीं, शुद्ध पर्याय पर नहीं, गुणभेद पर नहीं। यद्यपि साथ वर्तता हुआ ज्ञान सब का विवेक करता है, तथापि दृष्टि का विषय तो सदा एक ध्रुव ज्ञायक ही है, वह कभी छूटता नहीं है।

पूज्य गुरुदेव का ऐसा ही उपदेश है, शास्त्र भी ऐसा ही कहते हैं, वस्तुस्थिति भी ऐसी ही है। ३४४.

सहजतत्त्व का कभी नाश नहीं होता, वह मलिन नहीं होता, उसमें न्यूनता नहीं आती। शरीर से वह भिन्न है, उपसर्ग उसे छूते नहीं हैं, तलवार उसे छेदती नहीं है, अग्नि उसे जलाती नहीं है, राग-द्वेष उसे विकारी नहीं बनाते। वाह तत्त्व ! अनंत काल बीत गया हो तो भी तू तो ज्यों का त्यों ही है। तुझे कोई पहिचाने या न पहिचाने, तू तो सदा ऐसा ही रहने वाला है। मुनि के एवं सम्यग्दृष्टि के हृदयकमल के सिंहासन में यह सहजतत्त्व निरंतर विराजमान है। ३५९.

✽

जिनेन्द्रभगवान की वाणी में अतिशयता है, उसमें अनंत रहस्य होते हैं, उस वाणी द्वारा बहुत जीव मार्ग प्राप्त करते हैं। ऐसा होने पर भी संपूर्ण चैतन्यतत्त्व उस वाणी में भी नहीं आता। चैतन्यतत्त्व अद्भुत अनुपम एवं अवर्णनीय है। वह स्वानुभव में ही यथार्थ पहिचाना जाता है। ३६७.

✽

चैतन्यतत्त्व को पुद्गलात्मक शरीर नहीं है, नहीं है। चैतन्यतत्त्व को भव का परिचय नहीं है, नहीं है। चैतन्यतत्त्व को शुभाशुभ परिणति नहीं है, नहीं है। उसमें शरीर का, भव का, शुभाशुभ भाव का संन्यास है।

जीवने अनंत भवों में परिभ्रमण किया, गुण हीनरूप या विपरीतरूप परिणमित हुए, तथापि मूल तत्त्व ज्यों का त्यों ही है, गुण ज्यों के त्यों ही हैं। ज्ञानगुण हीनरूप परिणमित हुआ उससे कहीं उसके सामर्थ्य में न्यूनता नहीं आयी है। आनंद का अनुभव नहीं है इसलिये आनंदगुण कहीं चला नहीं गया है, नष्ट नहीं हो गया है, घिस नहीं गया है। शक्तिरूप से सब ज्यों का त्यों रहा है। अनादि काल से जीव बाहर भटकता है, अति अल्प जानता है, आकुलता में रुक गया है, तथापि चैतन्यद्रव्य और उसके ज्ञान-आनंदादि गुण ज्यों के त्यों स्वयमेव सुरक्षित

रहे हैं, उनकी सुरक्षा नहीं करनी पड़ती।

- ऐसे परमार्थस्वरूप की सम्यग्दृष्टि जीव को अनुभवयुक्त प्रतीति होती है। ३६९.

✽

जगत में सर्वोत्कृष्ट वस्तु तेरा आत्मा ही है। उसमें चैतन्यरस और आनंद भरे हैं। वह गुणमणियों का भण्डार है। ऐसे दिव्यस्वरूप आत्मा की दिव्यता को तू नहीं पहिचानता और परवस्तु को मूल्यवान मानकर उसे प्राप्त करने का परिश्रम कर रहा है ! परवस्तु तीन काल में कभी किसी की नहीं हुई है, तू व्यर्थ भ्रमणा से उसे अपनी बनाने का प्रयत्न करके अपना अहित कर रहा है ! ३७९.

✽

आत्मा उत्कृष्ट अजायबघर है। उसमें अनंत गुणरूप अलौकिक आश्चर्य भरे हैं। देखने जैसा सब कुछ, आश्चर्यकारी ऐसा सब कुछ, तेरे अपने अजायबघर में ही है, बाह्य में कुछ नहीं है। तू उसीका अवलोकन कर न ! उसके भीतर एक बार झाँकने से भी तुझे अपूर्व आनंद होगा। वहाँ से बाहर निकलना तुझे सुहायगा ही नहीं। बाहर की सर्व वस्तुओं के प्रति तेरा आश्चर्य टूट जायगा। तू पर से विरक्त हो जायगा। ३८७.

✽

एक चैतन्यतत्त्व ही उत्कृष्ट आश्चर्यकारी है। विश्व में ऐसी कोई विभूति नहीं है कि जो चैतन्यतत्त्व से ऊँची हो। वह चैतन्य तो तेरे पास ही है, तू ही वह है। तो फिर शरीर पर उपसर्ग आने पर या शरीर छूटने के प्रसंग में तू डरता क्यों है ? जो कोई बाधा पहुँचाता है वह तो पुद्गल को पहुँचाता है, जो छूट जाता है वह तो तेरा था ही नहीं। तेरा तो मंगलकारी, आश्चर्यकारी तत्त्व है। तो फिर तुझे डर किसका ? समाधि में स्थिर होकर एक आत्मा का ध्यान कर, भय छोड़ दे। ३९२.

तीन लोक को जाननेवाला तेरा तत्त्व है उसकी महिमा तुझे क्यों नहीं आती ? आत्मा स्वयं ही सर्वस्व है, अपने में ही सब भरा है। आत्मा सारे विश्व का ज्ञाता-दृष्टा एवं अनंत शक्ति का धारक है। उसमें क्या कम है ? सर्व ऋद्धि में उसीमें है। तो फिर बाह्य ऋद्धि का क्या काम है ? जिसे बाह्य पदार्थों में कौतूहल है उसे अंतर की रुचि नहीं है। अंतर की रुचि के बिना अंतर में नहीं पहुँचा जाता, सुख प्रगट नहीं होता। ३९६.

✽

मैंने अपने परमभाव को ग्रहण किया उस परम भाव के सामने तीन लोक का वैभव तुच्छ है। और तो क्या परंतु मेरी स्वाभाविक पर्याय - निर्मल पर्याय प्रगट हुई वह भी, मैं द्रव्यदृष्टि के बल से कहता हूँ कि, मेरी नहीं है। मेरा द्रव्यस्वभाव अगाध है, अमाप है। निर्मल पर्याय का वेदन भले हो परंतु द्रव्यस्वभाव के आगे उसकी विशेषता नहीं है। - ऐसी द्रव्यदृष्टि कब प्रगट होती है कि जब चैतन्य की महिमा लाकर, सब से विमुख होकर, जीव अपनी ओर झुके तब। ३९८.

✽

सम्यग्दृष्टि को भले स्वानुभूति स्वयं पूर्ण नहीं है परंतु दृष्टि में परिपूर्ण ध्रुव आत्मा है। ज्ञानपरिणति द्रव्य तथा पर्याय को जानती है परंतु पर्याय पर जोर नहीं है। दृष्टि में अकेला स्व की ओर का - द्रव्य की ओर का बल रहता है। ३९९.

✽

मैं तो शाश्वत पूर्ण चैतन्य जो हूँ सो हूँ। मुझ में जो गुण हैं वे ज्यों के त्यों हैं, जैसे के तैसे ही हैं। मैं एकेन्द्रिय के भव में गया वहाँ मुझ में कुछ कम नहीं हो गया है और देव के भव में गया वहाँ मेरा कोई गुण बढ़ नहीं गया है। - ऐसी द्रव्यदृष्टि ही एक उपादेय है। जानना सब, किन्तु दृष्टि रखना एक द्रव्य

पर। ४००.

ॐ

अहो ! सिद्धभगवान की अनंत शांति ! अहो ! उनका अपरिमित आनंद ! साधक के अल्प निवृत्त परिणाम में भी अपूर्व शीतलता लगती है तो जो सर्व विभावपरिणाम से सर्वथा निवृत्त हुए हैं ऐसे सिद्धभगवान को प्रगट हुई शांति का तो क्या कहना ! उनके तो मानों शांति का सागर उछल रहा हो ऐसी अमाप शांति होती है; मानों आनंद का समुद्र हिलोरें ले रहा हो ऐसा अपार आनंद होता है। तेरे आत्मा में भी ऐसा सुख भरा है परंतु विभ्रम की चादर आड़ी आ जाने से तुझे वह दिखता नहीं है। ४०८.

ॐ

प्रश्न :- आत्मा की विभूति को उपमा देकर समझाइये।

उत्तर :- चैतन्यतत्त्व में विभूति भरी है। कोई उपमा उसे लगू नहीं होती। चैतन्य में जो विभूति भरी है वह अनुभव में आती है; उपमा क्या दी जाय ? ४२८.



['श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथमें से उद्धृत रत्न]

एक (सम्यग्दृष्टि) भोग भोगता है फिर भी कर्म की वृद्धि नहीं करता, और एक भोग नहीं भोगता फिर भी कर्म की वृद्धि करता है; यह आश्चर्यकारक परंतु समझने योग्य कथन है।

(पत्रांक-२१-६, २०वाँ वर्ष)

ॐ

अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र और अनंतवीर्य से अभिन्न ऐसे आत्मा का एक पल भी विचार करें। (पत्रांक-२१-२१, २०वाँ वर्ष)

ॐ

हमने बहुत विचार करके यह मूल तत्त्व खोजा है कि, - गुप्त चमत्कार ही सृष्टि के ध्यान में नहीं है।

(पत्रांक-२१-३०, २०वाँ वर्ष)

ॐ

इस सृष्टि में ऐसा कोई प्रभावयोग उत्पन्न नहीं हुआ है, नहीं है और होनेवाला भी नहीं है कि जो प्रभावयोग पूर्ण आत्मस्वरूप को भी प्राप्त न हों। तथापि उस प्रभावयोग के विषय में प्रवृत्ति करने में आत्मस्वरूप का कुछ कर्तव्य नहीं है, ऐसा तो है; और यदि उसे उस प्रभावयोग में कुछ कर्तव्य प्रतीत होता है, तो वह पुरुष आत्मस्वरूप से अत्यंत अज्ञात है। (पत्रांक-४११, २५वाँ वर्ष)

ॐ

जिस पदार्थ को तीर्थकर ने 'आत्मा' कहा है, उसी पदार्थ की

उसी स्वरूप में प्रतीति हो, उसी परिणाम से आत्मा साक्षात् भासित हो, तब उसे परमार्थ-सम्यक्त्व है। (पत्रांक-४३१, २६वाँ वर्ष)

✽

अष्ट महासिद्धि आदि जो जो सिद्धियाँ कही हैं, ॐ आदि मंत्रयोग कहे हैं, वे सब सच्चे हैं। आत्मैश्वर्य की तुलना में ये सब तुच्छ हैं। जहाँ आत्मस्थिरता है, वहाँ सर्व प्रकार के सिद्धियोग रहते हैं।

आत्मा में जो सामर्थ्य है, उस सामर्थ्य के सामने इस सिद्धिलिखि की कुछ भी विशेषता नहीं है। (पत्रांक-६०१, २८वाँ वर्ष)

✽

हे मुमुक्षु ! एक आत्मा को जानने से तू समस्त लोकालोक को जानेगा, और सब जानने का फल भी एक आत्मप्राप्ति ही है; इसलिये आत्मा से भिन्न अन्य भावों को जानने की वारंवार की इच्छा से तू निवृत्त हो और एक निजस्वरूप में दृष्टि दे, कि जिस दृष्टि से समस्त सृष्टि ज्ञेयरूप से तुझमें दिखायी देगी। तत्त्वस्वरूप सत्शास्त्र में कहे हुए मार्ग का भी यह तत्त्व है, ऐसा तत्त्वज्ञानियों ने कहा है। (पत्रांक-६३१, २८वाँ वर्ष)

✽

हे कृपालु ! तेरे अभेद स्वरूप में ही मेरा निवास है वहाँ अब तो लेने-देने की भी झंझट से छूट गये हैं और यही हमारा परमानंद है।

इस विषमकाल में परमशांति के धामरूप हम दूसरे श्री राम अथवा श्री महावीर ही हैं, क्योंकि हम परमात्मस्वरूप हुए हैं।

(पत्रांक-६८०, २९वाँ वर्ष)

✽

वर्ते निज स्वभावानो, अनुभव लक्ष प्रतीत।

वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थ समकित।। (आत्मसिद्ध-१११)

✽

भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो।। (अपूर्व अवसर-१०)

✽

जे पद श्री सर्वज्ञे दीतुं ज्ञानमां,

कही शक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो;

तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे ?

अनुभवगोचर मात्र रह्यं ते ज्ञान जो।। (अपूर्व अवसर-२०)

✽

जिस अचिंत्य द्रव्य की शुद्धचित्तिस्वरूप कांति परम प्रगट होकर अचिंत्य करती है, वह अचिंत्य द्रव्य सहज स्वाभाविक निजस्वरूप है, ऐसा निश्चय जिस परमकृपालु सत्पुरुष ने प्रकाशित किया उसका अपार उपकार है। (पत्रांक-८३३, ३१वाँ वर्ष)

✽

जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहि कांई।

लक्ष थवाने तेहनो, कहां शास्त्र सुखदाई।।

(पत्रांक-९५४, ३४वाँ वर्ष)

✽

दिगंबर आचार्य ने ऐसा माना है कि "जीव का मोक्ष नहीं होता, परंतु मोक्ष समझ में आता है। वह इस तरह कि जीव शुद्ध स्वरूपवाला है, उसे बंध ही नहीं हुआ तो फिर मोक्ष होने का प्रश्न ही कहाँ है ? परंतु उसने यह मान रखा है, कि 'मैं बँधा हुआ हूँ, यह मान्यता विचार द्वारा समझ में आती है कि मुझे बंधन नहीं है, मात्र मान लिया था; वह मान्यता शुद्ध स्वरूप समझ में आने से नहीं रहती; अर्थात् मोक्ष समझ में आ जाता है।" यह बात 'शुद्धनय' अथवा 'निश्चयनय' की है। पर्यायार्थिक नयवाले इस नय को पकड़ कर आचरण करें तो उन्हें भटक भटक कर मरना है। (व्याख्यानसार-१-८०)

✽

दृष्टिविष दूर हो जाने के बाद कोई भी शास्त्र, कोई भी अक्षर,

कोई भी कथन, कोई भी वचन और कोई भी स्थल प्रायः अहित का कारण नहीं होता।

(आभ्यंतर परिणाम अवलोकन-संस्मरण पोथी-१ - १०)

卐

राग, द्वेष और अज्ञान का आत्यंतिक अभाव करके जिस सहज शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित हुए वह स्वरूप हमारे स्मरण, ध्यान और पाने योग्य स्थान है।

(आभ्यंतर परिणाम अवलोकन-संस्मरणपोथी-२ - १)



['द्रव्यदृष्टि-प्रकाश'में से उद्धृत रत्न]

कीचड़में धँसनेपर भय वृद्धि पामता जाता है परन्तु चैतन्यमें धँसनेपर निर्भयता वृद्धि पामती जाती है। मैं चैतन्य चैतन्यमें ही चलता हूँ; जड जडमें; विभाव विभावमें; मुझ नित्यमें मेरी पर्याय (परिणाम)का भी प्रवेश नहीं है; अन्यकी बात ही क्या ? अरे ! परिणाम परिणमता है और उस ही समय 'मैं' अपरिणामी हूँ। अरे भगवान कारणपरमात्मा ! तेरे दर्शन होते ही विभावकी पीठ दिखने लगती है; तेरा यथार्थ भान हुए बिना पूर्वमें परिणामाश्रित परिणामोंका इतना तीव्र बन्ध कर चुका था कि उनकी अवधि खतम होनेके लिये तेरे दर्शन स्वाभाविक होने ही थे। अरे चैतन्य ! तेरी इतनी पहोलाई विस्मित-सा कर देती है।

(पत्रांक-१७)

卐

ध्रुव आत्मा तो परिणामों में भी किंचित् उथल-पुथल नहीं कर सकता। ध्रुव में श्रद्धा की यथार्थ व्यापकता का यह नियम श्री गुरुदेव ने बताया है, वह सही है। (पत्रांक-२८)

卐

'अपरिणामी, नित्य, त्रिकाली, ध्रुव बिंब मैं हूँ' क्षणिक परिणाम नहीं - यह श्रद्धा का विषय है। श्रद्धा एक ही समय में पूर्ण त्रिकाली को पकड़कर अभेद हो जाती है। यहाँ अस्तित्व की स्थापना होते ही 'मैं' परिणाम के साथ नहीं परिणमता। परिणाम का कर्ता परिणाम

ही है, 'मैं' तो अपरिणामी वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ। वर्तमान से ही मुझे कुछ करना-कराना नहीं है। रटन, पुरुषार्थ, ज्ञान आदि सब परिणाम हैं। इनसे मुझे लाभ-हानि नहीं। मेरी अपेक्षा से यह स्वयं होते हैं। 'मैं' अविचल हूँ। इन परिणामों से विचलित नहीं होता। इनसे पृथक् व अधिक हूँ। अपेक्षा से मेरे गर्भ में होते हैं। पर 'मैं' इनमें एकमेक नहीं होता। दर्पण का त्रिकाली दल, एक समय की दर्पणाकार पर्याय से भिन्न ही रहता है। दोनों कार्य एक समय में है। यदि दल एक समय के आकार-पर्याय में आ जाये तो त्रिकालीपने का नाश हो जाता है। अतः त्रिकाली ध्रुव नित्य वस्तु में - अपने अस्तित्वपने में श्रद्धा की व्यापकता करते ही सब कार्य सहज स्वभावरूप अनुभव होने लगता है। वर्तमान से ही मुझे कुछ नहीं करना है, ऐसे 'मैं-पने' की यथार्थ अभेद प्रतीति होते ही चारित्र-पुरुषार्थ आदि के सब परिणाम सहज ही 'मैं त्रिकाली' का अनुसरण करने लगते हैं व शुद्ध होने लगते हैं। परिणामों में उलट-फेर करने की दृष्टि असम्यक् है। इस क्रिया से जब ही हट सकते हैं कि इनसे भिन्न अपरिणामी वस्तु में - निश्चलरूप वस्तु में निश्चल रहें।

(पत्रांक-३९)

卐

“स्वभावअंश में किंचित् भी दोष नहीं है, नित्य स्वभाव में दृष्टि थंभ जानेसे, उत्पन्न हुए सहज स्वभाव में, क्षमा आदि दूषित भाव प्रत्यक्ष पराश्रित (जड़ के) पर के हैं; अतः सहज क्षमाभाव त्रिकाल जयवंत वर्तो ! हमने कभी दोष किया ही नहीं, ऐसा स्वभाव निरंतर वृद्धि पामो। विभाव की गूँज में गूँजता हुआ अज्ञान भाव सहज नाश पामो। विभाव में तनीजो नहीं। स्वभाव-सीमा में निरंतर अडिग जमे रहो। क्षणिक विभाव वेदीजता हुआ अधिक की सीमा को पार नहीं कर सकता, अतः वहीं लय हो जाता है।” (पत्रांक-४४)

卐

प्रश्न :- आप शुद्ध पर्याय को दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न कहते हैं या ज्ञान की अपेक्षा से ?

उत्तर :- दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न कहते हैं; ज्ञान की अपेक्षा से नहीं। दृष्टि करने के प्रयोजन में भिन्नता का जोर दिये बिना दृष्टि अभेद नहीं होती; इसलिये दृष्टि की अपेक्षा से ही भिन्न कहते हैं। और अपनी तो यही ‘दृष्टिप्रधान’ शैली है, सो ऐसे ही कहते हैं। २.

卐

सिद्ध (पर्याय) से भी मैं अधिक हूँ; क्योंकि सिद्ध (दशा) तो एक समय की पर्याय है; और मैं तो ऐसी-ऐसी अनंत पर्यायों का पिण्ड हूँ। ७.

卐

जैसे मेरुपर्वत अडिग है; 'मैं' भी (स्वभाव से) वैसे ही अडिग हूँ। मेरु में तो परमाणु आते-जाते हैं; लेकिन मेरे में तो कुछ भी आता-जाता नहीं - ऐसा 'मैं' अडिग हूँ। ८.

卐

'मैं' वर्तमान में ही मुक्त हूँ, आनंद की मूर्ति हूँ, आनंद से भरचक समुद्र ही हूँ - ऐसी दृष्टि हो, तो फिर मोक्ष से भी प्रयोजन नहीं; मोक्ष हो तो हो, न हो तो भी क्या ? (पर्याय की इतनी गौणता द्रव्यदृष्टि में हो जाती है।)

मेरे को तो वर्तमान में ही आनंद आ रहा है फिर पर्याय में तो मोक्ष होगा ही ! (- ऐसी प्रतीति आ जाती है।) लेकिन मेरे को तो उससे भी प्रयोजन (दृष्टि) नहीं। ९.

卐

द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से तो शुद्धपर्याय भी परद्रव्य है। जब मेरे अस्तित्व में वो (शुद्धपर्याय) नहीं तो फिर राग की तो बात ही क्या ? (द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा अर्थात् द्रव्यस्वभाव में अहंभावरूप श्रद्धा का

परिणमन होना। ऐसी श्रद्धा होनेपर ही पर्याय शुद्ध होती है परंतु श्रद्धा उसमें अहंभाव नहीं करती।) ११.

✽

पर्याय में तीव्र अशुभपरिणाम हो या उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुद्धपर्याय हो 'मेरे' में (एकरूप द्रव्यस्वभाव में) कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं होता, 'मैं' तो वैसा का वैसा ही हूँ। १२.

✽

(द्रव्यदृष्टि के जोर में :) केवलज्ञान से भी हमारे प्रयोजन नहीं; मोक्ष से भी प्रयोजन नहीं; वो तो हो ही जाता है। १३.

✽

परिणाम अपना है; तो भी उसको आप खुद ही (कर्ताबुद्धि से) पलट नहीं सकते। परिणाम में कर्ता-कर्मपने का धर्म है, इसलिए वो तो पलटेगा ही। जब दृष्टि बाहर झुकी है; दृष्टि का प्रसार अपने को छोड़कर बाहर में है; तो परिणाम भी बाहर झुकेगा। और यदि दृष्टि अपने स्वभाव की ओर है, तो परिणाम भी अपनी ओर झुकेगा।

अपने को तो परिणाम भी पलटाना (फेरफार करना) नहीं है। 'मैं' अपरिणामी हूँ और पलटना मेरा धर्म ही नहीं है; वह तो परिणाम का धर्म है। दृष्टि की अपेक्षा से शुद्ध परिणाम भी मेरे से अलग ही है; ज्ञान उसको अपना अंश जान लेता है। १९.

✽

'मैं' स्वयं ही वर्तमान में भगवान हूँ - (इसमें) भगवान होना भी क्या है ?... अपने स्वभाव में दृष्टि का प्रसार होते, पर्याय मेरी ओर झुकते-झुकते, पर्याय में केवलज्ञान - सिद्धदशादि होती ही है; परंतु मुझे तो इससे भी प्रयोजन (दृष्टि) नहीं है। २३.

✽

विभाव तो मेरे से बहुत दूर है। यहाँ तो परिणाम (शुद्धपर्याय) भी मेरे से भिन्न है। 'मैं' तो अपरिणामी हूँ - एक समय के परिणाम

के साथ नहीं बहता। २६.

✽

'मैं' (त्रिकाली) परिणाम में नहीं जाता। (त्रिकाली स्वभाव में अपनापन होनेसे) परिणाम सहज ही मेरी ओर आता है। २९.

✽

'मैं' वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ, कृतकृत्य हूँ, मुझे कुछ करना-धरना ही नहीं है - ऐसी दृष्टि होनेपर, परिणाम में आनंद का अंश प्रकट होता है; और बढ़ते-बढ़ते पूर्णता हो जाती है। ३०.

✽

दृष्टि का विषयभूत द्रव्य एकांत कूटस्थ ही है। पर्याय की अपेक्षा से पर्याय एकांत अनित्य ही है। (- यह सम्यक् एकांत है।) ३२.

✽

'मैं' तो कभी भी नहीं हिलनेवाला खूँटा हूँ। परिणाम आते हैं और जाते हैं, मगर 'मैं' तो खूँटे की तरह अचलित ही रहता हूँ। ४०.

✽

'मैं' तो अडिग हूँ; किसीसे डिगनेवाला नहीं हूँ। जैसे इस देहाकार में स्थित आकाश अडिग है, हिलता-चलता नहीं; वैसे ही 'मैं' भी अडिग हूँ। ५०.

✽

चैतन्य-गठरी 'मैं' ही हूँ - ऐसी पकड़ हो जानेसे मति-श्रुतज्ञान अंतर में ढल जाता है; इसलिए अंतर में ढलने के लिए (उपदेश में) कहने में आता है। ५३.

✽

'मैं' वर्तमान में ही समझण का पिण्ड हूँ। ५४.

✽

प्रश्न :- शास्त्र में तो प्रयत्न करना...प्रयत्न करना, ऐसी बात

आती है ?

उत्तर :- प्रयत्न करने के लिए कहने में आता है; प्रयत्न होता भी है; लेकिन प्रयत्न भी तो पर्याय है। 'मैं' तो पर्याय मात्र से भिन्न हूँ, प्रयत्न क्या करें ? - सहजरूप होता है। प्रयत्न आदि का 'होना' पर्याय का स्वभाव है। 'मैं' उसमें, न आता हूँ, न जाता हूँ; 'मैं' त्रिकाली हूँ - ऐसी दृष्टि में प्रयत्न सहज होता है। ७१.

✽

आखी वस्तु (प्रमाण का विषय) बताने में नित्य और अनित्य बताने में आता है; इसमें अनित्य अंग दूसरे (द्रव्य) का नहीं है, ऐसा बताने के लिए है। परंतु दृष्टि का विषय तो 'नित्य ही हूँ' है, और अनित्य मेरे से भिन्न ही है। उसका (उत्पाद-व्यय का) भाव और मेरा (ध्रुव का) भाव विरुद्ध है। ७५.

✽

शक्ति की तरफ़ देखे तो इतना भारी-भारी लगता है कि संपूर्ण जगत् फिर जावे तो भी वह (अनंत शक्तियों का पिण्ड) नहीं फिर सकता है, ऐसा घनरूप है; उसमें कुछ विचलितता ही नहीं होती। ७६.

✽

दर्पण में जो पर्याय दिखती है, वह तो ऊपर-ऊपर है, अंदर में जो दल पड़ा है वह तो जैसा का तैसा है, वह पर्यायरूप होता ही नहीं। - ऐसे त्रिकाली स्वभाव का दल वैसा का वैसा ही है, पर्याय में आता ही नहीं। ७८.

✽

प्रश्न :- चौथे गुणस्थानवाले को वस्तु का अनुभव है और स्थिरता का प्रयत्न भी करता है फिर भी अनुभव में काल क्यों लगता है ?

उत्तर :- चारित्र की पर्याय में इतनी अस्थिरता है, पुरुषार्थ की कमी है; पर्याय की ऐसी योग्यता है, लेकिन दृष्टि में उसकी गौणता

है। 'वर्तमान में ही पूर्ण हूँ - इसमें पर्याय की कमती - बढ़ती गौण है। ९५.

✽

अरे भाई ! तू अपने सारे के सारे असंख्य प्रदेश में चैतन्यमूर्ति हो, उसीमें बैठे रहो न ! उठकर कहाँ जाते हो ? ११५.

✽

शुभराग को कर्तव्य मानने की तो बात ही कहाँ ? 'मेरा' तो कोई कर्तव्य ही नहीं, ऐसा पहले पक्का होना चाहिए। (ध्रुव में कर्तव्य कैसे हो सकता है ? 'मैं' तो ध्रुवतत्त्व हूँ!) १५९.

✽

इधर (स्वद्रव्य में) दृष्टि जम गयी.... बस, वही मुक्ति है; मुक्ति करनी नहीं है। १६१.

✽

वस्तु वर्तमान में प्रत्यक्ष स्थित है, वर्तमान में ही विद्यमान है। एक समय की पर्याय के पीछे पूर्ण वस्तु स्थित है; लक्ष्य करे उसी क्षण दिख जाती है। (अर्थात् वेदन में आ जाती है।) १८०.

✽

'मैं' ऐसी भूमि हूँ जहाँसे क्षण-क्षणमें नया-नया फल उत्पन्न होता ही रहता है। जैसे भूमिसे ऋतु-ऋतुके अनुसार अनेक फल उत्पन्न होते रहते हैं, वैसे 'मैं' ऐसी भूमि हूँ जहाँसे सुखका फल उत्पन्न होता ही रहता है। 'मैं' अमृतरससे भरा हुआ हूँ। 'मैं' तो ऐसी भूमि हूँ जिसे फलके लिए जलकी भी ज़रूरत नहीं रहती, क्योंकि 'मैं' स्वयं ही सुखरूप हूँ; दूसरे पदार्थोंकी अपेक्षा ही नहीं। १८६.

✽

'वर्तमान में ही कृतकृत्य हूँ - ऐसी दृष्टि अपनी वस्तु में हुयी, तो करूँ...करूँ - ऐसी कर्तृत्व बुद्धि छूट गयी.... बस ! यही मुक्ति है। १९१.

“शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुख धाम” - कैसी सुंदर बात श्रीमद्जीने की है ! एक पंक्ति में सब बात आ गई। बस, भाई ! तू इतना ही विचार (ज्ञान) कर। १९७.

✽

‘मैं अधिक हूँ - यही स्वयं का महात्म्य भाव है। ‘मैं’ कोई भी भावमें - विकल्प में खिसकता नहीं, तणीजता (खींचिजता) ही नहीं, वैसा का वैसा और वहीं का वहीं हर समय रहता हूँ; विकल्प के साथ, परिणाम के साथ, खिसकता ही नहीं हूँ। क्या दर्पण का दल क्षणिक आकार में खिसकता है (आता है) ? - वैसा का वैसा ही रहता है। ऐसे ही, ‘मैं’ भी सदा वैसा का वैसा रहता हूँ। १९९.

✽

कहाँ एक समय का भाव... और कहाँ त्रिकाली सामर्थ्य !! त्रिकाली सामर्थ्य के पास एक समय के भाव की क्या शक्ति ?

२००.

✽

अरे भाई ! ‘तू’ एक समय की पर्याय में आ नहीं जाता है। ‘तू’ तो अनंती पर्यायों का पिण्ड है; यदि ‘तू’ एक पर्याय में आ गया तो अन्य सभी पर्यायें विधवा हो जायेंगी। २०३.

✽

‘मैं’ ऐसा अपरिणामी (ध्रुव) पदार्थ हूँ कि तीनों लोकों के सभी पदार्थ इकट्ठे होकर भी मुझे हिला-डुला नहीं सकते। २०६.

✽

साधक-बाधक - ये सब तो पर्याय का ज्ञान करने के लिए हैं। सबलाईका (अनंत वीर्य के पिण्डरूप का) चश्मा लगाए बिना, नबलाई का भी (यथार्थ) ज्ञान नहीं होता है। साधकपना - बाधकपना तो पर्याय की बात है, ‘हमें’ तो साधकपने-बाधकपने की भी दरकार नहीं है, क्योंकि बाधकपना ‘मुझे’ (त्रिकाली को) नुकसान नहीं पहुँचा सकता

और साधकपना लाभ नहीं कर सकता; तो फिर इनका विचार क्यों ? २०७.

✽

‘मैं’ निरावलंबी पदार्थ हूँ - ऐसा निर्णय आए बिना, अभिप्राय में (पर का) आलंबन नहीं छूटता। २१६.

✽

परिणाम में फेर-फार करना मुझ चैतन्य-खान का स्वभाव नहीं है। ‘पुरुषार्थ’ की खान ही मैं हूँ तो फिर एक समय के पुरुषार्थ में ‘करने की’ आकुलता क्यों ? २३४.

✽

यहाँ (त्रिकाली में) अपनापन आते ही मोक्ष अपने आप हो जाता है। दृष्टि ‘यहाँ’ अभेद हुई तो इसे मुक्ति समझो ! २३७.

✽

(विकल्पात्मक) कृत्रिम पुरुषार्थ की तो बात ही क्या ? लेकिन अक्रिय (चिद्बिंब की) दृष्टि में तो सहज पुरुषार्थ की भी गौणता है, क्योंकि वह भी क्रिया (एक समय की पर्याय) है। अक्रिय (स्वरूप) - दृष्टि में क्रिया मात्र की गौणता है। २४०.

✽

वस्तु और वस्तु में एकाग्रता-तणाव (खिँचाव) - बस, ये ही दो बातें हैं। एकाग्रता होते-होते मुक्ति हो जाती है। (इसके अलावा) सुनना, तत्त्वचर्चा करना, ये सब विषय-सेवन हैं (क्योंकि बहिर्मुखीभाव हैं); अपने विषय को छोड़कर, इन्हें विषय बनाते हैं तो अपना विषय पड़ा रह जाता है। २४७.

✽

आत्मा, ज्ञान और सुख से भरा हुआ है फिर अपने को चाहिए भी क्या ? लोग जन्म-मरण से छूटना चाहते हैं, लेकिन ‘मैं’ तो जन्म-मरण से रहित ध्रुव हूँ; उत्पाद-व्यय के साथ भी ‘मैं’ खिसकता

नहीं। २५१.

✽

'मैं' ही पुरुषार्थ की खान हूँ न ! दृष्टि ने पुरुषार्थ की खान का कब्जा ले लिया, फिर पर्याय में पुरुषार्थ, सुख आदि सहज होता ही है। २५५.

✽

'मैं' इतना मज़बूत स्थल हूँ कि एक समय की पर्याय में अनंत सुख हो, ज्ञान हो या अनंती विपरीत पर्यायें हों, 'मेरे' में उन पर्यायों से कुछ भी हलचल नहीं होती, सुधार-बिगाड़ नहीं होता - ऐसी दृढ़-मज़बूत चीज़ 'मैं' हूँ। (- ऐसी दृष्टिवाले का परिणाम सुधर जाता है, फिर भी इसकी अपेक्षा नहीं होती।) २६६.

✽

जैसे मृत्यु का बाज़ा ताव से छूटता है, ऐसे 'परिणाम मेरे से सर्वथा भिन्न है' (- ऐसा ज़ोर देने पर ही) दृष्टि परिणाम से छूटती है। २६९.

✽

'मैं' ऐसा पदार्थ हूँ कि मेरे में भय का प्रवेश ही नहीं हो सकता है (तो) फिर भय किस विषय का ? २७७.

✽

"शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम" - इसमें पर्याप्त बात बतला दी है। फिर जो बात आती है, वह तो 'परलक्ष्यीज्ञान की निर्मलता' के लिए सहज हो तो हो ! २८१.

✽

दृष्टि की तुलना में चारित्र का पुरुषार्थ अनंतगुना है, लेकिन उसकी भी मुख्यता नहीं (क्योंकि वह भी पर्याय है); दृष्टि के विषय की मुख्यता में उसकी भी गौणता रहती है। २८२.

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा कैसा है ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा - ध्रुव, अभेद, एकरूप, शुद्ध, अखण्ड, कूटस्थ, अपरिणामी है। २८६.

✽

एक समय की पर्याय को छोड़कर जो सामान्य वस्तु रह जाती है, वही दृष्टि का विषय है। २८९.

✽

जो पर्याय जिस कालमें होनेवाली है, तभी होती है। मुनिदशा भी सहज होती है। पहले भावना होती है; लेकिन अभिप्रायकी पहले प्रधानता करो; पीछे योग्यता प्रधानी हो जाओगे। जो पर्याय जब होनेवाली है तब ही होती है। 'अपन' तो जहाँ बैठे हैं, वहाँ कुछ करना-कराना नहीं है। 'अपन तो बंध और मुक्ति दोनोंसे रहित हैं।' [सम्यग्दृष्टि जीवको मुनिपदसे लेकर पूर्ण शुद्धदशाकी भावना आती है फिर भी उसे अपने अक्रिय चिद्बिम्बका ही अभिप्राय मुख्य रहता है। अतएव मुमुक्षु जीवको भी दृष्टिके विषयभूत स्वरूपकी मुख्यतामें रहकर ही अध्यात्मदशाकी भावना होनी चाहिए; वरना पर्यायदृष्टि छूटी नहीं होनेसे उसे भावनाकी तीव्रतामें भी पर्याय-प्रधानता वृद्धिगत हो जाएगी।] २९४.

✽

दृष्टि के विषय की हर समय मुख्यता रहनी चाहिए। (दूसरी) चाहे जितनी बात आओ, लेकिन उसकी (दृष्टि के विषय की) गौणता नहीं होनी चाहिए। २९५.

✽

पूरे 'समयसारजी' में छठी गाथा में सम्यग्दर्शन का खास विषय आगया है। छठी गाथा में सबसे उत्कृष्ट बात आगयी है। 'मैं प्रमत्त भी नहीं, अप्रमत्त भी नहीं,' कौनसी पर्याय बाकी रही ? २९६.

✽

आत्मा तो गंभीर है; समुद्र की माफिक अनंत शक्तियाँ अपने में संग्रह करके बैठा है; इसकी दृष्टि होते ही ज्ञान में भी गंभीरता

और विवेक आता ही है। ३०६.

✽

'मैं' तो विकल्प से शून्य हूँ और मेरे भावों से 'मैं' भरपूर हूँ।
३१३.

✽

'मैं' वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ फिर (स्वरूप में तो) मुक्ति का प्रयास करने का भी सवाल नहीं उठता। करना क्या है ? - परिपूर्ण में मुक्ति क्या करना ! ३२५.

✽

(द्रव्य -) दृष्टि तो अस्थिरता और स्थिरता दोनों की ही नहीं कबूलती है। ३६०.

✽

'दृष्टि' ऐसी प्रधान चीज़ है कि स्वभाव में दृष्टि जमते ही (सब) परिणाम खिलने लगते हैं। ('दंसणमूलोधम्मो।' जैसे मूल में पानी सिंचन से वृक्ष पनपता है, वैसे।) ३६८.

✽

परिणाम से भी ऊँडा, सूक्ष्माति-सूक्ष्म तत्त्व जो है सो 'मैं' हूँ।
३७०.

✽

सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको सदा 'त्रिकाली आत्मा हूँ' ऐसा ही मानते हैं। 'मैं' ध्रुव सिद्ध हूँ - जिसमें सिद्ध-दशाकी भी गौणता रहती है; सिद्ध-दशाका भी प्रति समय उत्पाद-व्यय होता है; 'मैं' तो सदा ध्रुव हूँ। ३७३.

✽

'मैं' त्रिकाली स्वभाव कभी बंधा ही नहीं हूँ तो फिर 'मुझे' मुक्त कहना तो गाली है। पर्याय को मुक्त कहो वह तो ठीक है, क्योंकि वह बंधी हुई थी। परंतु 'मुझे' तो मुक्त कहना भी ठीक नहीं

है। ३७५.

✽

ध्रुवगुफाके अंदर चले जावो - वहाँ आनंद और सुखका निधान भरा है, उसको नित्य भोगो !
३७९

✽

दृष्टि का नशा चढ़ जाए तो बारंबार अंतर में ही वलण होता है बाहर में कुछ रुचता ही नहीं। ४०६.

✽

प्रश्न :- तो क्या नशे की माफ़िक दृष्टि का स्वरूप है ? अन्य कुछ देखती ही नहीं।

उत्तर :- हाँ ! दृष्टि का नशा ही ऐसा है, अन्य कुछ देखती ही नहीं; एक अपनी ओर (स्वरूप की ओर) ही दौड़ती है। इसीलिए तो कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को बाहर में, चर्चा आदि में रुकना रुचता ही नहीं, वह तो अंदर ही अंदर जाना चाहता है। ४०७.

✽

केवलज्ञान से अपने को लाभ होनेवाला नहीं और शुभाशुभभावों से अपने को नुकसान होनेवाला नहीं, 'मैं' तो ऐसा तत्त्व हूँ। (ध्रुवतत्त्व, उत्पाद-व्यय से निरपेक्ष है - ऐसी दृष्टि की बात है।)

जैसे कोई मेरु से माथा फोड़े तो उससे मेरु हिलता नहीं है, ऐसे ही परिणाम मेरे से टकराते हैं तो भी 'अपन' परिणाम से हिलनेवाले नहीं हैं। ४२९.

✽

इधर की (त्रिकाली की) दृष्टि होती ही (पर्याय अपेक्षा) मुक्ति चालू हो जाती है। चालू क्या हो जाती है ! (द्रव्यदृष्टि अपेक्षा या भावीनय से) मुक्ति हो ही गई। ४३७.

✽

'दृष्टि' वस्तु का अवलंबन क्या लेती है !! - वह तो समूची

वस्तु को ग्रास कर जाती है; पूरी की पूरी वस्तु में व्याप्त हो जाती है; मालिक बन जाती है। मालिक कहने में भी भेद आ जाता है, 'दृष्टि' तो स्वयं ही उस वस्तुरूप है। ४४२.

卐

आत्मा के एक-एक प्रदेश में अनंत-अनंत सुख भरा है - ऐसे असंख्य प्रदेश सुख से ही भरपूर हैं; चाहे जितना सुख पी लो ! कभी खूटेगा ही नहीं। हमेशा सुख पीते रहो फिर भी कमी नहीं होती। ४५३.

卐

(एक समय का) अनंत आनंद का वेदन आवे - वह भी 'मैं; (त्रिकाली तत्त्व) नहीं हूँ; क्योंकि वेदन का 'मेरे' में (त्रिकाली में) अभाव है। 'मैं' एक समय के वेदन में आ जाऊँ तो 'मेरा' नाश हो जाए। ('मैं' एक समय की पूर्ण पर्याय जितना - ही नहीं हूँ, लेकिन पूर्ण पर्याय से भी अधिक हूँ - ऐसा कहने का भाव है।) ४६७.

卐

दृष्टि तो हर समय अपने को पूर्ण ही देखती है। मुनि भी ऐसा कहते हैं कि 'हम तो पामर हैं' लेकिन उन्हें तो अपनी खिली हुई परिणति का मुकाबला पूर्ण (स्वरूप) के साथ करते हुए, अपनी पामरता लगती है - इस अपेक्षा से (अपने को पामर) कहते हैं। दृष्टि तो साधक-बाधकपना ही नहीं स्वीकारती है। ४७०.

卐

मिथ्यात्व हो या सम्यक्त्व हो, यह देखो ही मत ! 'मैं' तो ध्रुव तत्त्व हूँ - यहाँ आते ही मिथ्यात्व-पर्याय भी निश्चय से - नियम से चली जाएगी। दृष्टि के निर्णय में पूर्ण शुद्धि भरी हुयी है। (दृष्टि के विषयभूत स्वस्वरूप में पूर्ण शुद्धि भरी है, अतः उसके निर्णय में भी अर्थात् निर्णय के गर्भ में भी पूर्ण शुद्धि का सत्त्व है। स्वरूपनिर्णय के काल में नियम से स्वरूप अस्तित्व का ग्रहण होता है और स्वभाव

के संस्कार ऐसे पड़ते हैं कि जिसके फलस्वरूप सिद्धपद प्रगट होगा ही। ऐसे दृष्टि के विषयभूत स्वस्वरूप का निर्णय होते ही सभी अवस्थाओं के प्रति उपेक्षा सहज ही हो जाती है।) ४८०.

卐

यह ध्रुवतत्त्व किसीको नमता (झुकता) ही नहीं है। खुद की सिद्धपर्याय को भी नहीं नमता। ४८१.

卐

'मैं' कृतकृत्य चैतन्यधाम हूँ, विकार ने मुझे छुआ ही नहीं, मैं ध्रुवधाम हूँ - ऐसा अपना अहम्पना आना चाहिए। ५११.

卐

मेरा स्वभाव ज्ञान-दर्शनादि से लबालब भरा हुआ है, इसमें नया कुछ करना नहीं है, कुछ बढ़ाना भी नहीं है। ५१२.

卐

पर्याय में तीव्र से तीव्र अशुभ परिणाम हो या उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुद्ध परिणाम हो 'मेरा' कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं। 'मैं' तो वैसा का वैसा ही हूँ। (पर्याय में कितना भी फेरफार हो लेकिन द्रव्य तो एकरूप रहता है; इसलिए ध्रुव-नित्य स्वभाव के आगे किसी भी प्रकार की क्षणिक-अनित्य पर्याय का मूल्य नहीं है।) ५२२.

卐

प्रौढ विवके : 'मैं' निष्क्रिय चिंमात्र वस्तु हूँ। ५४१.

卐

'दृष्टि' परिणामपर रखी है तो (उसका) मुख द्रव्य की ओर बदलना है; यह मुख भी परिणाम ही बदलता है; 'मेरे' में (ध्रुव सामान्य में) तो मुख भी कहाँ बदलना है ? 'मैं' तो जहाँ हूँ वहाँ ही हूँ; बदलना-फदलना कुछ 'मेरे' में नहीं है। ('मैं' तो ध्रुव हूँ, ऐसे श्रद्धा के परिणाम में, परिणाम का मुख स्वयं पलटकर आत्मोन्मुखी हो जाता है।) ५५२.

卐

निष्क्रियभाव कहने से जीव को पुरुषार्थ हीनता लगती है। अरे भाई ! वह (स्वभाव) तो पुरुषार्थ की खान है; और जो मुक्ति होती है उसकी भी उसको दरकार (अपेक्षा) नहीं है। (निष्क्रियस्वभाव में आते ही मुक्तिपर्यंत की सर्व पर्यायों की अपेक्षा ही छूट जाती है, कृतकृत्यता अनुभव गोचर होती है - ऐसा भाव स्वयं पुरुषार्थ स्वरूप है; अतः उसे पुरुषार्थविषयक असमाधान नहीं रहता।) ५६०.

✽

आत्मा तो समुद्र है। जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं और अपने में ही विलीन हो जाती हैं; समुद्र को लहरों की क्या दरकार ? वैसे ही इधर परिणाम उठते हैं और समा जाते हैं; मुझ (ध्रुव स्वभाव) समुद्र को इनकी क्या दरकार ? ५६२.

✽

(कितने ही लोग) समझे बिना, द्रव्य में पर्याय नहीं है... नहीं है - ऐसा ले लेते हैं। लेकिन 'पर्याय नहीं है,' ऐसा कौन कहता है !! दृष्टि का विषयभूत - 'अपरिणामी' - पर्याय से अलग है, उसमें पर्याय का अभाव है, उसमें पर्याय नहीं है - ऐसा कहते हैं। ('द्रव्य' शब्द का प्रयोग दो प्रकार से होता है : (१) प्रमाण के विषयभूत पदार्थ को द्रव्य कहते हैं। (२) निश्चयनय के विषयभूत अपरिणामी द्रव्यस्वभाव को भी द्रव्य कहते हैं। पहले में पर्याय का सद्भाव है तथा दूसरे में असद्भाव है। अतएव जहाँ जो प्रकरण हो वहाँ तदनु रूप अर्थघटन करना चाहिए।) ५६६.

✽

'परिणाममें से अहम्पना हटना और त्रिकाल स्वभाव में अहम्पना करना,' वह शुद्धजीव का (परिणामस्वभाव) स्वरूप है। ५६९.

✽

(निज सुख के लिए) सारे जगत् में बस... 'मैं ही एक वस्तु हूँ और कोई वस्तु है ही नहीं।' अरे ! दूसरी कोई वस्तु है या

नहीं है, ऐसा विकल्प भी क्यों ? ५७८.

✽

परिणाम मात्र व्यवहार है। परिणाम की दृष्टि से दीनता आती है। पर्याय में रुकने से एकांत दुःख होता है। परिणाम उत्पाद-व्यय स्वरूप है। 'मैं' तो अपरिणामी हूँ, जिसमें उत्पाद-व्यय नहीं है; निगोद से लेकर सिद्ध तक वैसा का वैसा ही हूँ। परिणाम में प्रसरने से परिणाम जितना हो जाएगा। (क्षणिकपरिणाम जितना ही अपना जीवन (अस्तित्व) ग्रहण करने से - ऐसे मिथ्यात्व के फलस्वरूप - निगोद का क्षणिक जीवन प्राप्त होता है।) ५८३.

✽

'मैं' तो विकल्प मात्र से और परिणाम मात्र से रहित हूँ। ५८५.

✽

दर्पण में समय-समय पर आकार (प्रतिबिंब जैसा) होता रहता है, तो भी दर्पण का दल ज्यों का त्यों रहता है। ऐसे ही, 'स्वभाव' दर्पण के दल जैसा है; वह स्वयं के साथ तादात्म्य है, आकार के साथ नहीं। त्रिकाली में वर्तमान परिणामन का अभाव है। ५८९.

✽

'स्वभाव' सावधान स्वरूप है। पर्याय में सावधानी होनेपर स्वभाव पकड़ने में नहीं आता। ५९१.

✽

हे जीव ! जिसमें तेरी रुचि होगी उसी अनुसार गति होगी। क्योंकि जब भविष्य में भी तुझे अनंतकाल रहना ही है तो यह देह छूटने पर कहाँ रहेगा ? - कि जैसी तेरी रुचि होगी-जैसी तेरी मति होगी; वैसी ही गति पाएगा। जो तेरी मति चैतन्यस्वरूप में न होकर राग और पर में होगी तो तुझे मरकर संसार में ही भटकना पड़ेगा। अतः हे जीव ! 'अपनी मति,' राग व पर में न लगा। ५९४.

✽

'मैं' तो प्रतिमासमान अपरिणामी हूँ। 'मेरे' में पालथी मारकर बैठ जाता हूँ। दर्पण के दल की तरह निष्क्रिय हूँ। परिणाम जो होने लायक है सो होता है। 'मैं' तो पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य हूँ - वही निष्क्रियता है। ५९६.

卐

त्रिकालीमें विकार-अविकार कुछ नहीं है। (वह तो जैसा है वैसा है।) ६०६.

卐

'वर्तमान में ही अक्रिय-अपरिणामी हूँ' अर्थात् कोई क्रिया करने का अभिप्राय नहीं है। कुछ करूँ...करूँ में, स्वयं परिणमन करते परिणाम को करने का ही अभिप्राय रहता है। (जो मिथ्या है।) ६०८.

卐

एक ओर त्रिकाली का पलड़ा और दूसरी ओर क्षणिक का पलड़ा; - जैसे एक ओर माल, दूसरी ओर बारदान; महत्ता मालकी है, बारदान की नहीं। ६१७.

卐

'मैं परिणाम से शून्य हूँ' - ऐसा (रुचिपूर्वक) ज़ोर आना चाहिए।
६२५.

卐

'मेरी' भूमि वर्तमान में इतनी निष्कम्प और नक्कर (ठोस) है कि जिससे 'मैं' वर्तमान में ही निर्भय हूँ, निरावलंबी हूँ, परिपूर्ण हूँ, निष्क्रिय हूँ, सुखस्वरूप हूँ, कृतकृत्य हूँ, त्रिकाल एकरूप हूँ, अचल हूँ। ६२७.

卐

एक पलड़े में आत्मा, और दूसरे पलड़े में तीन काल-तीन लोक; फिर भी आत्मावाला पलड़ा (भार से) बैठ जाता है, और दूसरा पलड़ा उलट जाता है। ६२९.

卐

निश्चयग्रंथ आत्मा है, निश्चयगुरु आत्मा है और निश्चयदेव भी आत्मा है। मूल बात इधर (अंतर) से है; बाद में बाहर के निमित्तों पर उपचार किया जाता है। ६३६.

卐

'मैं तो अभी ही सिद्ध हूँ' चौदहवाँ गुणस्थान होगा और बाद में सिद्धालय में जाना होगा, क्षेत्रांतर वगैरह होगा; लेकिन यह सब कार्य पर्याय में होगा। पर्याय का कार्य पर्याय में होता है, 'मेरे' में नहीं। 'मैं' तो अभी ही सिद्धालय में बैठा हूँ ! कभी कहीं आया भी नहीं, गया भी नहीं। ६३७.



श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१ जिणसासणं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनमृतोंका संकलन)	०८-००
०२ द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग - पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्त्वचर्चा)	३०-००
०३ दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनमृतोंका संकलन)	०६-००
०४ दंसणमूलो धम्मो (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
०५ निर्घात दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
०६ परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनमृत)	
०७ प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
०८ मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
०९ विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनमृतोंका संकलन)	१०-००
१० सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी कुल्लक)	१५-००
११ तत्त्वानुशीलन (भाग १-२-३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
१२ अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंद्रजी कासलीवाल)	
१३ ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनमृत)	
१४ मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	
१५ सम्यग्दर्शनके सर्वोत्कृष्ट निवासभूत छः पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
१६ आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-५६९, ४९९, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
१७ परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
१८ अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनमृतोंका संकलन)	१५०-००
१९ धन्य आराधना (श्रीमद् राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	
२० सिद्धपदका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१४७, १९४, २००, ५११, ५६०, ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)	२५-००

२१ कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३, ३३२, ५१०, ५२८, ५३७ और ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
२२ गुरु गिरा गौरव (पूज्य निहालचंद्र सोगानीजी के विशिष्ट वचनमृत एवं पत्रों पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)	४०-००
२३ दिशा बोध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००

વીતરાગ સત્સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ

મૂલ્ય

૦૧	ગુરુગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેશી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ)	૦૫-૦૦
૦૨	જિણાસાસણં સવ્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૦૩	દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત)	૦૨-૦૦
૦૪	દ્રવ્યદષ્ટિપ્રકાશ ભાગ-૩ (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીની તત્ત્વચર્યા)	૦૪-૦૦
૦૫	દસલક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂ. ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૦૬	ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૦૭	નિર્ભ્રાંત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૦૮	પરમાત્મપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૦૯	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત)	૧૧-૨૫
૧૦	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૧ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૧૧	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૨ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૧૨	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૩ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૧૩	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૪ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૧૪	પ્રવચન પ્રસાદ ભાગ-૧-૨ (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૧૫	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૧૬	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૧૭	ભગવાન આત્મા (દ્રવ્યદષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૧૮	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૧૯	સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક)	૧૫-૦૦
૨૦	આધ્યાત્મિક પત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૨૧	અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	પ્રેસમાં
૨૨	જ્ઞાનામૃત (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃતો)	૦૬-૦૦
૨૩	બીજું કાંઈ શોધ મા (પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૨૪	મુમુક્ષુતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૨૫	સમ્યગ્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભુત છ પદનો અમૃત પત્ર (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૬	આત્મયોગ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૬૯, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૭	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૮	અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા લિખિત વચનામૃતોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૨૯	સિદ્ધ પદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦ ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૦	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૧	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય નિહાલચંદ્ર સોગાનીજીના વિશિષ્ટ વચનામૃતો તથા પત્રો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૪૦.૦૦
૩૨	વચનામૃત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં 'બહેનશ્રીના વચનામૃત' પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સર્ગ પ્રવચનો	૪૦.૦૦
૩૪	દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૬૬, ૪૪૯, ૫૭૨, પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૫	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) ('પરમાગમસાર' માંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से
प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकायसंग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलशटीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	ज्ञानामृत (गुजराती)	१०,०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनंदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	६६००
२२	पुरुषार्थसिद्धिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमागमसार (गुजराती)	५०००
२८	परमागमसार (हिन्दी)	४०००
२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२	५०००

३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	१५००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजराती)	२०००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजूं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२०००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२०००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	२०००
६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००
६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	१५००

६५	वचनामृत रहस्य	१०००
६६	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३०००
६७	कहान रत्न सरिता	१५००
६८	प्रवचन सुधा (भाग-१)	१०००
६९	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७०	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७१	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३०००

पाठकों के लिये

पाठकों के लिये

पाठकों के लिये